निराला के उपन्यासों में स्वच्छंदतावादी चेतना

(एम० फिल० की उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध)

विद्यानिधि छाबड़ा

शोध निर्देशक

डा० सोमप्रकाश 'सुधेश'

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा संस्थान

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय

नई दिल्ली—110067

1985-86

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
भारतीय भाषा केन्द्र

न्यू महरौली रोड
नई दिल्ली-110067

दिनांक 2 जनवरी, 1986

प्रमाणित किया जाता है कि कुमारी विद्यानिधि डाबड़ा द्वारा प्रस्तुत "निराला के उपन्यासों में स्वच्छंदतावादी चेतना" शीर्षक लघु-शोध-प्रबंध में प्रयुक्त सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य विश्वविद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है। यह प्रयास सर्वथा मौलिक है।

(डा० मुहम्मद हसन)
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र

(डा० सोम प्रकाश सुधेश)
शोध-निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र

भूमिका

"छोटे-से घर की लघु सीमा में
बंधे हुए क्षुद्र भाव
यह सच है प्रिय
प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निस्सीम भू पर . . . "

छोटे-से घर की बंधी सीमा में तो कुछ भी नहीं उपज सकता, कुछ भी सार्थक । कलाकार की रचनाशीलता भी आंदोलनों और 'वादों' के घेरे में बंधकर निःशेष नहीं होती, बल्कि इन घेरों से बाहर निकल, प्रसार के नए क्षेत्र खोजती है । सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ऐसे ही संवेदनशील कलाकार हैं, जिनकी रचनाशीलता को स्वच्छंदतावाद या किसी दूसरे वाद का ठप्पा लगाकर बांधा नहीं जा सकता । उनकी रचनाशीलता के अनेक स्तर, अनेक आयाम हैं-संवेदनाओं के, अभिव्यक्ति के । कभी ये आपस में गहरे जुड़े हैं, तो कभी परस्पर विरोधी हैं । स्वच्छंदतावाद निराला की रचनाशीलता का एक पक्ष है । उनके उपन्यासों में स्वच्छंदतावादी चेतना पर बात करना उनके व्यक्तित्व और रचनात्मकता को वाद के दायरे में बांधना नहीं, उसके एक पक्ष की संवेदनात्मक समझदारी भर विकसित करना है ।

निराला के कवि-कर्म पर बहुत लिखा गया है, कथा साहित्य पर कम । अधिकतर आलोचकों ने निराला पर बात करते हुए उनके कवि रूप पर ही दृष्टि रखी है और उनके कथाकार रूप को जैसे 'कवि' का दूसरा स्थान भर मान लिया है । कुछेक ने कथा साहित्य की चर्चा प्रासंगिक तौर पर एकाध अध्याय में की है । राजकुमार सैनी ने 'साहित्यस्रष्टा निराला' और चेलिशेव ने

'सूर्यकांत त्रिपाठी निराला' में निराला के कथाकार रूप का एक-एक अध्याय में आलोचनात्मक परिचय दिया है । रामविलास शर्मा ने अपने 'निराला की साहित्य-साधना' में उनकी कहानियों और उपन्यासों में 'दिवा-स्वप्नों' और 'विरोधी प्रवृत्तियों' की संक्षिप्त चर्चा करते हुए उनकी कथाकार-प्रतिभा को पहचाना है ।

निराला के कथा-साहित्य पर कुछ शोध कार्य भी हुए हैं – नारायण चंद सिंधवी का 'महाकवि निराला का कथा-साहित्य' (जोधपुर विश्वविद्यालय, 1968), मीना दूबे का 'निराला के कथा-साहित्य में सामाजिक चेतना' (जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 1984) । ये अध्ययन निराला के परवर्ती उपन्यासों की प्रखर यथार्थवादी चेतना को विश्लेषित तो करते हैं, पर उनकी स्वच्छंदतावादी चेतना पर प्रकाश नहीं डालते ।

हिन्दी उपन्यासों की विकास-परंपरा पर लिखने वाले विद्वानों की नज़र में तो निराला का उपन्यासकार रूप उपेक्षित ही रहा है । प्रेमचन्द युग के उपन्यासकारों की चर्चा करते हुए निराला का भी नामोल्लेख कर दिया जाता है । आलोचकों की प्रवृत्ति निराला को एक सफल कवि, पर असफल उपन्यासकार मानने की रही है । गोपाल राय ने अपने निबंध 'निराला के उपन्यास' में प्रेमचंद युग के उपन्यासकारों – प्रसाद, जैनेन्द्र, इलाचंद जोशी, भगवतीचरण वर्मा और निराला – की चर्चा करते हुए उपन्यास-साहित्य को इनकी देन में निराला का अवदान सबसे कम बताया है । गोपाल राय ने निराला के प्रारंभिक चार उपन्यासों को ही उपन्यास कहा है । उनका मानना है कि परवर्ती चार उपन्यासों को कहानी, रेखाचित्र, व्यंग्य आदि कुछ भी कहा जाए, उपन्यास नहीं कहा जा सकता ।

इस अध्ययन का उद्देश्य एक तरफ स्वच्छंदतावाद को बेहतर ढंग से समझ पाना है, दूसरी तरफ निराला के उपन्यासों की शक्ति और सामर्थ्य की गहरी समझदारी विकसित करना ।

पहले अध्याय में परस्पर विरोधी विशेषणों और परिभाषाओं के जंगल में से स्वच्छंदतावाद की मूल चेतना को पकड़ने की कोशिश की गई है और भारतीय और यूरोपीय संदर्भों में उसकी चारित्रिक प्रवृत्तियों और विशिष्टताओं की पड़ताल की गई है।

दूसरे अध्याय में पहले स्वच्छंदतावाद और उपन्यास के संबंध की चर्चा है, फिर निराला के उपन्यासों का आलोचनात्मक परिचय। यूं, स्वच्छंदतावाद की चर्चा अक्सर कविता के प्रसंग में की जाती है, और यथार्थवाद को अक्सर गद्य तथा उपन्यास के संदर्भ में देखा जाता है। इस अध्ययन में स्वच्छंदतावाद और उपन्यास के संबंध को मैंने कल्पना और यथार्थ, अद्भुत और वास्तविक, परीकथा और जीवन-कथा के परस्पर संबंध में समझना चाहा है।

निराला के प्रारंभिक चार उपन्यासों —'अप्सरा', 'अलका', 'निरुपमा', और 'प्रभावती' को ही अध्ययन का आधार बनाया गया है — कुछ विषय को सीमित-संक्षिप्त करने के लिए, और कुछ इसलिए, कि 1936 को विभाजक रेखा के रूप में लिया जा सकता है। उससे पहले के दो दशक हिन्दी कविता में छायावाद के रहे हैं, बाद के दो दशक प्रगतिवाद के।

तीसरे अध्याय में निराला के समाज और मानवता के आदर्श, सामंतवाद विरोधी प्रखर जनवादी चेतना, साम्राज्यवादी राजतंत्र का विरोध, आजादी, समानता और बंधुत्व के सपने — इन सबको उनके जीवन-समर और 'व्यक्ति' के संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है। कहीं वैयक्तिक विद्रोह पूरी व्यवस्था की आलोचना बन जाता है और कहीं समूह के संघर्ष में भी व्यक्ति का 'अहं' बराबर मौजूद रहा है — इसकी चर्चा भी की गई है।

चौथे अध्याय में औपन्यासिक शिल्प — कथा संयोजन, घटनातंत्र, व्यक्ति चरित्र; भाषा-प्रयोग और मूर्तविधान — के माध्यम से यह जानने की कोशिश है कि ये उपन्यास भाववादी होकर रह जाते हैं या परवर्ती उपन्यासों के आलोचनात्मक यथार्थवाद का सोपान भी बनते हैं।

इस अध्ययन में मेरे साथ रहे हैं – डा० सोमप्रकाश 'सुधेश', जिन्होंने बिखरे हुए विचारों और निष्कर्षों को समेट कर उन्हें एक रूपरेखा और दिशा दी है; और मेरी मां, जिनसे मैंने जिंदगी के बहुतसे अर्थ समझे हैं।

– विद्यानिधि अबड़ा
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

दिनांक 2 जनवरी, 1986

—

अध्याय : एक रेखा

क्रम	अध्याय	शीर्षक-उपशीर्षक	पृष्ठ
1-	भूमिका		क - घ
2-	प्रथम अध्याय	स्वच्छंदतावाद की मूल चेतना	1 - 25
		1. परिभाषा : अर्थ बनाम अनर्थ	1
		2. मुक्ति की मुद्राएँ	2
		(क) पूंजीवादी अंतर्विरोध	
		(ख) पूर्व का स्वच्छंदतावाद : देशी सामंतवाद और विदेशी साम्राज्यवाद के खिलाफ विद्रोह	
		(ग) स्वच्छंदतावाद : भारतीय संदर्भ	
		3. हिन्दी में स्वच्छंदतावाद अर्थात छायावाद	16
3-	द्वितीय अध्याय	स्वच्छंदतावाद और निराला के उपन्यास	26 - 60
		1. स्वच्छंदतावाद और उपन्यास	26
		(क) रोमांस और नावेल : अद्भुत और वास्तविक	
		(ख) भारतीय कथा-साहित्य की परंपरा और हिंदी उपन्यासों का पहला दौर	
		(ग) प्रेमचंद और उनके युग के स्वच्छंदतावादी उपन्यासकार	
		(घ) 'रोमांटिक' शिल्प के भीतर यथार्थ का आग्रह	

क्रम	अध्याय		शीर्षक-उपशीर्षक	पृष्ठ
		2.	निराला के उपन्यास : जीवन-संग्राम की अभिव्यक्ति	43
			(क) 'अप्सरा': आकांक्षा और अप्राप्ति का अपराजित समर	
			(ख) 'अलका' : मुक्तिपथ की खोज	
			(ग) 'निरुपमा' : बुद्धिजीवी वर्ग की प्रेमकथा	
			(घ) 'प्रभावती' : अतीत के प्रसंग से वर्तमान पर विचार	
4.	तृतीय अध्याय		'तोड़ो तोड़ो कारा . . . ' (निराला के उपन्यासों का कथ्य और स्वच्छंदतावादी चेतना)	61 - 92
		1.	व्यक्ति का जीवन संग्राम	61
			(क) प्रेमपथ की मुक्ति	
			(ख) नारी मुक्ति का वास्तविक पथ	
			(ग) रूढ़ियों से मुक्ति	
		2.	देश की मुक्ति अर्थात 'सुराज' का वास्तविक अर्थ	71
		3.	पूंजीवादी स्वार्थ समर	77
		4	समाज और मानवता के सपने और मोहभंग	83
5.	चतुर्थ अध्याय		'छोड़कर बंधनमय छंदों की छोटी राह..' (निराला के उपन्यासों का शिल्प और स्वच्छंदतावाद)	92 -121.
		1.	कला-मुक्ति की साधना	92
		2.	कथा-तंत्र बनाम व्यूह रचना	95

क्रम	अध्याय	शीर्षक-उपशीर्षक	पृष्ठ
		3. व्यक्तिचित्र : जीवन संघर्ष के विविध रूप	103
		4. छायावादी भाषा-शिल्प	110
		5. प्रकृति : संघर्ष का मूर्त विधान	115
		6. व्यंग्य : छायावादी भावुकता की काट	118
6.	उपसंहार		122 -126
7.	परिशिष्ट एक : आधार ग्रंथ		127
8.	परिशिष्ट दो : सहायक ग्रंथ	- (क) हिन्दी	128
		(ख) पत्र-पत्रिकाएँ	130
		(ग) अंग्रेजी	131

—

प्रथम अध्याय

स्वच्छंदतावाद की मूल चेतना

(1) परिभाषा : अर्थ बनाम अनर्थ

आज 'रोमैंटिसिज़्म' (स्वच्छंदतावाद) की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा देने का प्रयास किया जाए, तो हम उसका अर्थ कम समझेंगे, अनर्थ ज़्यादा । यूं, इस शब्द की ।।, 396 परिभाषाएं गिनाई जा चुकी है और उसकी अवधारणा से जुड़े परस्पर विरोधी विशेषणों की लंबी सूची भी बनाई जा चुकी है[1], लेकिन इसके बावजूद वह विवाद का विषय रहा है ।

वस्तुतः स्वच्छंदतावाद एक आंदोलन के रूप में विश्व के भिन्न साहित्यों में इतने विभिन्न रूपों में आया है और हर देश में माहौल और वक्त के मुताबिक उसने एक अलग आकार, एक अलग अर्थ ग्रहण किया है, कि उसकी कोई एक संतोषप्रद परिभाषा देने का प्रयास कहीं न कहीं एकांगी और सीमित होकर ही रह जाता है । कुछ विद्वानों के लिए स्वच्छंदतावाद वैयक्तिकता, कल्पना और भावुकता का दर्शन भर बनकर रह जाता है, जिसमें वैयक्तिकता का अर्थ है – निर्मम संसारिकता और राजनीतिक, सामाजिक मसलों की भौतिकता से पलायन ; कल्पना का अर्थ है — तर्क और तथ्य का विरोध और युग के अप्रिय यथार्थ से मुंह चुराना ; भावुकता की ज़रूरत सौन्दर्य को रहस्यात्मक आवरण देने के लिए है, और यह सौन्दर्य है – प्रकृति का 'असभ्य' (नैसर्गिक नहीं) पक्ष । ऐसी ही एक भ्रांति है – स्वच्छंदतावाद में केवल अतीत के सुखद प्रसंगों या भविष्य के सुन्दर सपनों को खोजना या निराशा और अवसाद को ही देखना । कुछ विद्वानों

1- एफ॰ एल॰ लुकास ने 'द डिक्लाइन एंड फॉल आफ द रोमैंटिक आइडियल' में ये परिभाषाएं गिनाई हैं और जैक बारज़न ने 'रोमैंटिसिज़्म एंड द मार्डन ईगो' में विशेषणों की सूची दी है ।

के लिए स्वच्छंदतावाद व्यक्ति की कामजनित दमित कुंठाओं के कारण वास्तव से बायावी अतीन्द्रिय रूप देना और स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह होकर रह गया है, तो कुछ ने उसे 'काव्यात्मक मिथकों की भाषा में बदलाव'[1] के रूप में समझा है।

उधर विद्वानों के एक वर्ग ने इस धारणा को सामने रखा कि 'स्वच्छंदतावाद का कोई दौर हो सकता है, लेखक हो सकता है, स्वच्छंदतावाद हो सकते हैं, लेकिन कोई एक स्वच्छंदतावाद नहीं हो सकता'।[2] इस धारणा के पीछे यह विश्वास था कि स्वच्छंदतावाद की एक सामान्य परिभाषा या फार्मूला बनाने पर उसके विभिन्न लेखकों की विभिन्नताओं, अंतर्विरोधों और संघर्षों की उपेक्षा कर दी जाती है।

स्वच्छंदतावाद की इन धारणाओं से कई बातें उभर कर आती हैं। एक, अपनी वैयक्तिक ज़रूरतों और बौद्धिक स्वार्थों के हिसाब से स्वच्छंदतावाद को अपने हद तक तोड़ा मरोड़ा गया है। दो, उसे इस आधार पर खारिज़ करने की कोशिश भी की गई है, कि वह किसी एक मानसिक स्थिति, दृष्टिकोण या शिल्प पर लागू नहीं किया जा सकता, इसलिए व्यर्थ है। लेकिन जो बात सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण है, वह यह, कि इस शब्द के इतने सारे वास्तविक और संभाव्य अर्थ इस आंदोलन के जटिल और पेचीदे चरित्र की तरफ जहाँ संकेत करते हैं, वहीं देशकाल की सीमा को तोड़ने वाले उसके विस्तार को भी दिखाते हैं। यही वजह है कि स्वच्छंदतावाद की परिवेशगत भिन्नताओं और अंतर्विरोधों के बीच उसके मूल चरित्र को समझना उसकी परिभाषा देने से कहीं बेहतर है।

(2) मुक्ति की मुद्राएँ

वस्तुतः स्वच्छंदतावाद साहित्य, कला और दर्शन के क्षेत्र में वह दौर है, जब लोकतंत्र और उद्योग – दोनों का विकास समाज में गुणात्मक परिवर्तन

---

1. Northrop Frye : 'Romanticism Reconsidered', p.4

2. Newton P. Stallknecht, Frenz : 'Comparative Literature', p. 278

ला रहा था । ऐसे परिवर्तन, जो सामाजिक और व्यक्तिगत – दोनों स्तरों पर तीव्रता से महसूस किए जा रहे थे और व्यक्ति की चेतना को निर्धारित करने में, उसके सोचने के ढंग को बदलने में निर्णायक भूमिका निभा रहे थे । यूरोप में ये परिवर्तन फ्रांसीसी राज्यक्रांति और इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति से जुड़े थे, तो पराधीन देशों के संदर्भ में राष्ट्रीय मुक्ति की आकांक्षा से ।

यूरोप में जिन स्थितियों की राजनीतिक परिणति फ्रांसीसी क्रांति में हुई, उन्हीं की कलात्मक परिणति स्वच्छंदतावाद में । विलासिता और कृत्रिमता से रोगग्रस्त निरंकुश राजतंत्र का सामंती ढांचा उस हद तक पहुंच चुका था, जिसे तोड़ने की आकांक्षा बलवती होने लगी थी । एक तरफ बुर्जुआ वर्ग आर्थिक दृष्टि से सर्वाधिक शक्तिशाली बनने के बाद निरंकुश राजतंत्र में अपने अधिकारों के लिए संघर्षशील था, दूसरी तरफ सामंती उत्पीड़न और अंतहीन वसूलियों से परेशान किसान विद्रोह के रास्ते पर उतर आया था । शहरों के मेहनतकश बेकारी के कारण अन्नभंडारों पर हमले करने को मजबूर थे । ऐसी स्थिति में, शोषण और उत्पीड़न की माध्यम राजनीतिक संस्थाओं की ध्वस्त का, जनता के शासन और व्यक्ति की स्वतंत्रता की आकांक्षा ही युग की पहली मांग थी । विद्यमान सामंती व्यवस्था को बदलने की यह आकांक्षा, निरंकुश राजतंत्र के सभी रूपों का प्रतिरोध और राजनीतिक तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता के जन्मसिद्ध अधिकार की प्राप्ति –यही वह व्यापक आधार था, जिस पर अपने वर्ग हितों और लक्ष्य में फर्क होने के बावजूद सभी वर्ग एकजुट हुए थे ।

फ्रांसीसी क्रांति का यह 'स्वाधीनता, समानता और बंधुत्व' का सपना स्वच्छंदतावादी कलाकार का सपना था । उसने अपने जीवन में भी समाज के पुरातन सामंती ढर्रे को तोड़ा और काव्य में भी सामंती नियमों, रूढ़ियों और विधि-निषेधों की निरंकुशता से मुक्ति चाही । युग-बदलाव, सामाजिक बंधनों से विद्रोह और कला की मुक्ति की आकांक्षा स्वच्छंदतावाद में कई अलग-अलग मुद्राओं में अभिव्यक्त हुई, चाहे वह परंपरा और शास्त्रीयता के बंधनों के प्रति विद्रोह हो, या स्वच्छंद कल्पना द्वारा निर्मित प्रकृति का ऐसा स्वप्न-संसार, जिसमें 'व्यक्ति' की समस्त संभावनाओं का स्वच्छन्द विकास संभव हो सके ।

रूसो का मानना था कि मानव स्वभावतः भला होता है, समाज के बुरे नियम-कानून, यानी व्यवस्था ही उसे बुरा बना देती है । इन नियम-कानूनों को तोड़ दिया जाए, तो मानवीय संभावनाओं का एक नया, असीम आकाश खुल जाएगा । स्वच्छंदतावादियों का मूल विश्वास यही था कि व्यक्ति अपार संभावनाओं का खज़ाना है और दमनकारी सामाजिक व्यवस्था के ध्वंस्त का एक नया समाज गढ़ सकता है । 'इसी विश्वास ने फ्रांसीसी क्रांति को एक 'नया धर्म' बना दिया था'।[1]

यह धारणा स्वभावतः शास्त्रवाद के खिलाफ पड़ती थी, क्योंकि वहां मानव सीमित, स्थिर, परंपरा और व्यवस्था में बद्ध जीव था । साहित्य भी तदनुसार कुछ रूढ़ियों में बंधा था । स्वच्छंदतावादियों का शास्त्रीयता-विरोध स्वाभाविक ही था, क्योंकि उनके लिए साहित्य का मतलब ही था - नयी मानवीय संभावनाओं की तलाश में कल्पना की उन्मुक्त उड़ान ।

शास्त्रवाद के विरोध की एक दूसरी वजह भी रही थी । वह यह, कि उसका संबंध उस अभिजात वर्ग से था, जिससे बुर्जुआ वर्ग के हितों की सीधी टकराहट थी । 18वीं सदी तक अति-अति बुर्जुआ वर्ग आर्थिक प्रभुत्व के साथ-साथ कला और संस्कृति का भी वास्तविक संरक्षक बन चुका था । बुर्जुआ रुचि के प्रभुत्व में अभिजात श्रेष्ठता को चुनौती दी कलाकार ने । अभिजात वस्तुपरकता के स्थान पर वैयक्तिकता ; कुछ ही सीमित, बंधी विधियों में बंधे रहने के स्थान पर आधुनिक ज़िन्दगी से जुड़े तमाम विषयों, यहां तक कि साहित्य में वर्जित विषयों पर लेखनी उठाना इसी चुनौती का अंग था ।

लेकिन शास्त्रवादियों से विद्रोह करते-करते कुछ स्वच्छंदतावादियों (कालरिज, श्लेगल और कुछ जर्मन स्वच्छंदतावादियों) ने नवजागरण और प्रबोधन के युग (एनलाइटेनमेंट) के अंतर्विरोधों को न समझते हुए उसे खारिज कर दिया । दूसरी ही तरफ शेली, बायरन, स्तेंदाल और हेनरिख हेन इत्यादि ने नवजागरण के

1- T.E. Hulme : 'Speculations', p.5

बुद्धिवाद को समझते हुए उसके यांत्रिक विचारों और आशावादी सरलीकरणों का तो विरोध किया, लेकिन उसके ढेरों प्रगतिशील पहलुओं – ज्ञान-विज्ञान का प्रसार, चर्च और धार्मिक हठधर्मिता का विरोध, सोचने के पंडिताऊ ढंग का विरोध – आदि को ग्रहण किया । उन्होंने इस बात को भी समझा कि विज्ञान युग-विरोधी नहीं, नया मानव-सत्य है और प्राचीन रूढ़ियों की बेड़ी तोड़ने और नवीन चेतना लाने का साधन है ।

रूढ़ि और परंपरा के विरुद्ध भावात्मक विद्रोह का एक दूसरा अस्त्र थी – सृजनशील कल्पना, जिसे स्वच्छंदतावादियों ने ईश्वर के समानांतर शक्ति माना । प्रकारांतर से इसमें कल्पना द्वारा एक नयी सृष्टि रचने की कोशिश निहित थी । यह सृष्टि 'काल्पनिक' नहीं थी, अपने युग के यथार्थ से उसका गहरा संबंध था, क्योंकि कल्पना सृजन भी करती है और उद्घाटन भी । वह सृजन के ज़रिए उद्घाटित करती है ।

यह कल्पना 'विशेष अंतर्दृष्टि' थी । वर्ड्सवर्थ ने कहा था –"अपनी उन्नत अवस्था में कल्पना अबाध, असीम शक्ति का, स्पष्टतम अंतर्दृष्टि का, मानस के विस्तार का और तर्क का ही दूसरा नाम है ।"[1] इसलिए सामान्य बुद्धि जिस यथार्थ को देख नहीं पाती, कल्पना उसमें पैठ सकती है, उसके रहस्यों को बेध सकती है । इस तरह वह इस बात को ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकती है कि ज़िंदगी का वास्तविक अर्थ क्या है, उसकी सार्थकता, उसका मूल्य-महत्व क्या है ।

कलाकार के लिए जीवन का यह यथार्थ-बोध निष्क्रिय नहीं था । स्वच्छंदतावादियों ने मानस को सर्जनात्मक कहा – इस अर्थ में, कि अनुभूत करते वक्त वह उस संसार को रचता भी है, जिसमें वह रहता है या रहना चाहता है । यह संसार था — मानव की समानता और सहअस्तित्व का । कलाकार जानता

---

1. Wordsworth : 'The Prelude, Growth of a Poets' mind, p. 255
"(Imagination) Is but another name for absolute power,
And clearest insight, amplitude of mind
And reason in her most exalted mood."

था, कि 'या तो उसे एक व्यवस्था गढ़नी होगी, या फिर दूसरे की व्यवस्था का दास बनना होगा ।'[1]

कलाकार की यह स्वछंद कल्पना भविष्य की संभावनाओं तक सीमित नहीं हो जाती, अतीत की ओर प्रत्यावर्तन भी करती है । वर्तमान से असंतुष्ट कलाकार को अतीत के कुछ पक्ष भी बहुत खींचते हैं और अनुभव बनकर आगे का रास्ता भी देते हैं । लेकिन अतीत का यही मोह किसी विशिष्ट क्षणों में नकारात्मक भूमिका भी निभाने लगता है (खास तौर पर जर्मन स्वछंदतावाद में), जब कल्पना और अतीत क्षुब्ध वर्तमान से पलायन का माध्यम बन जाते हैं । जर्मन रोमांटिक 'नोवालिस' के लिए कल्पना फिर महज सपना होकर रह जाती है, जो रात, अर्थहीनता और एकाकीपन से प्रेम करती है ।[2] इसीलिए कलाकार आम को एक रहस्यात्मक व्यक्तित्व देता है, परिचित को अपरिचित की प्रतिष्ठा और गरिमा देता है ।

इस रहस्यात्मकता की एक वजह और भी है । वह यह, कि विज्ञान का आगमन ईश्वर के प्रति आस्था के शक्लोर चुका है और इस आस्था की तलाश कलाकार प्रकृति और मनुष्य में करता है । कल्पना द्वारा ईश्वर के सौन्दर्य का आरोप वह प्रकृति में करता है और ईश्वर की गरिमा और औदात्य का आरोप मानव पर । प्रकृति और मानव में छिपी संभावनाओं की जिज्ञासा रहस्यात्मक हो जाती है ।

(क) पूंजीवादी अंतर्विरोध

दरअसल, एक आंदोलन के रूप में स्वछंदतावाद तमाम तरह के अंतर्विरोधों से ग्रस्त है । जर्स्ट फिशर ने स्वछंदतावाद को दर्शन, साहित्य और

---

1. Blake :'Poetry and Prose', p. 823

"I must create a system or be enslaved by Another man's."

2. C.M. Bowra :'The Romantic Imagination', p.6

कला में विकासशील पूंजीवादी समाज के अंतर्विरोधों का आईना कहा है।[1] फ्रांस की ही बात करें, तो क्रांति के बाद बुर्जुआ वर्ग के तमाम अंतर्विरोध स्पष्ट होने लगते हैं। बुर्जुआ वर्ग राजनीतिक लोकतंत्र चाहता था, लेकिन जैसे ही क्रांति में आर्थिक समानता को गंभीरता से लिया जाने लगा, उसने ग्रामीण किसान वर्ग और शहरी मजदूर वर्ग को दरकिनार कर अभिजात वर्ग से समझौता कर लिया। आजादी, भाईचारे और समानता के नारे ने उन स्वार्थ-संबंधों में अपना अर्थ बदल लिया। स्वतंत्रता और समानता का अर्थ अब अन्याय और शोषण से मुक्ति नहीं, बल्कि बाज़ार में प्रतिद्वन्द्विता की आज़ादी हो गया। क्रांति के बाद प्रतिक्रांति का यह दौर आपसी फूट, गद्दारी और विदेशी युद्धों से गुज़रता हुआ अंततः सामंती राजतंत्रवादी प्रतिक्रिया तक पहुंचा। सन 1815 ई० में यूरोपीय राजाओं ने जो 'पवित्र सम्बंध' किया, उसका लक्ष्य ही था क्रांतिकारी राजद्रोह और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को दबाना। इस सामंती-धार्मिक प्रतिक्रिया के विरुद्ध सामाजिक असंतोष ही स्पेनी क्रांति (1820-23) और इतालवी क्रांति (1820-21) में अभिव्यक्त हुआ (भले ही, अंततः वे बुरी तरह दबा दी गईं हों) और वही स्वच्छंदतावाद में भी।

स्वच्छंदतावादी कलाकार सिर्फ यथार्थ का आईना नहीं था, बल्कि वह समाज की आकांक्षाओं को एक दृष्टि प्रदान कर रहा था। वह समाज में डूबा नहीं था, बल्कि समाज से आगे देखने की कोशिश कर रहा था। बायरन (1788-1824) ने शपथ ली —"और मैं संघर्ष करूंगा, हर राष्ट्र में, स्वेच्छाचार से।" यूनान के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन (तुर्क शासन के खिलाफ) के लिए लड़ते हुए दलदली बुखार में उसने अपनी जान भी दी। स्तेंदाल (1783-1842) ने अपने उपन्यासों में भी प्रतिक्रिया और धार्मिक उत्पीड़न की शक्तियों के खिलाफ संघर्ष किया और इतालवी क्रांति का समर्थन भी किया। पुश्किन ने स्पेनी क्रांति की प्रशंसा में गीत लिखे और रूसी ज़ार के खिलाफ दिसंबरियों के विद्रोह का समर्थन भी किया।

---

1. Ernst Fischer : 'The Neccessity of Art', p. 53

उधर, औद्योगिक क्रांति के प्रसार ने प्रजातांत्रिक मूल्यों का प्रसार कर व्यक्ति के सोचने के ढंग में परिवर्तन किया, तो विज्ञान की सार्वभौमिकता के सामने धर्म की पुरातन रूढ़ियां भरभरा गईं। लेकिन पूंजीवाद के विकास के साथ उसके अंतर्विरोध भी स्पष्ट हुए। फ्रांस से इंग्लैंड की स्थिति कुछ भिन्न थी, तो इस अर्थ में कि वहां पूंजीवाद के आने से अभिजात वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के हितों में टकराहट नहीं थी। वहां के सत्ताधारी वर्ग की विशेषता यह रही कि उसने बुर्जुआ वर्ग को भी पूंजी बनाने दी और खुद भी बनाई। इंग्लैंड में सत्ता पूंजीवादी अभिजात वर्ग के हाथ ही रही, परिणामतः पूंजीवाद का तीव्र गति से प्रसार हुआ।

'पूंजीवादी को अगर कला की जरूरत थी तो अपनी वैयक्तिक जिंदगी की सजावट के लिए या फिर बढ़िया पूंजीनिवेश के रूप में।'[1] कलाकार ने खुद को बड़ी अजीब-सी स्थिति में पाया। फ्रांसीसी क्रांति और प्रतिक्रांति के दौर में वह मुक्ति की आकांक्षा और सामंती दमन की निराशा के बीच जूझ ही रहा था, व्यक्तिगत स्तर पर भी प्रतिद्वन्द्विता, प्रदर्शक के संरक्षण और बाज़ार की रुचि में उसके अस्तित्व का संकट आन पड़ा। एक तरफ पुरानी सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व का उच्चतम मानव आदर्श, नयी व्यवस्था और मानवीय संभावनाओं के लिए खुला आकाश, आधुनिक विचारों की अभिव्यक्ति के नए-नए तरीके, दूसरी तरफ अनदेखे बाज़ारी संबंधों में रचनाशीलता का माल बन जाना और प्रतिद्वन्द्विता के जंगल में अस्तित्व की अनिश्चितता। कलाकार ने ऐसे बुर्जुआ पूंजीवादी समाज के खिलाफ, व्यापार और मुनाफे की प्रवृत्ति के खिलाफ विद्रोह किया।

रूसो ने कहा था, हम स्वतंत्र पैदा हुए हैं, लेकिन कदम-कदम पर बेड़ियों में जकड़े हैं।[2] भीतर की स्वतंत्रता और बाहर के अंकुशों से मुक्ति

1- Ernst Fischer : 'The Neccessity of Art', p. 49

2- रूसो के 'सोशल कंट्रैक्ट' की पहली पंक्ति यही थी।

दृढ़ता विद्रोही कलाकार आत्मकेन्द्रित हुआ । एक तरफ उसने सक्रिय विरोध का रास्ता अपनाया, साहित्य और कलाकार का महत्व स्थापित करने का प्रयास किया, तो दूसरी तरफ साहित्य की श्रेष्ठता का मानदंड बन गई बाज़ार की रुचि और लोकप्रियता का तिरस्कार कर जनता से कट भी गया और इस क्रम में निराशा, विषाद, खिन्नता और अवसाद का शिकार हुआ ।

कलाकार को जब महज एक उत्पादन की हैसियत दी जा रही थी, इस प्रवृत्ति के खिलाफ कलाकार ने कला-सृजन की विशेष प्रकृति पर बल दिया । उसने कलाकार को एक विशिष्ट प्रतिभा-अंतर्दृष्टि संपन्न, 'जीनियस', और उन मानवीय मूल्यों, संभावनाओं का पथ-प्रदर्शक कहा, जिन्हें पूंजीवादी विकास नष्ट करने पर तुला था ।[1] वर्ड्सवर्थ ने 'लिरिकल बेलड्स' की भूमिका में लिखा कि कविता नियमों के भीतर किया जाने वाला उत्पादन नहीं, प्रबल संवेगों का सहज-स्वाभाविक रूप से उमड़कर बह निकलना है । कवि बैठे-ठाले का मनोरंजन नहीं करता, बल्कि मानवता का संरक्षक होने के कारण मानवीय संबंधों की रागात्मकता दोबारा बहाल करता है । शेली ने 'डिफेंस आफ पोएट्री' में लिखा — "हमें नैतिक मूल्यों, या राजनीतिक अर्थशास्त्र के ज्ञान से ज्यादा जिसकी जरूरत है, वह है 'जिंदगी की कविता' ।"[2]

इससे एक तरफ कला में संवेदनशीलता, सृजनात्मकता और मौलिकता को विशेष महत्व मिला, दूसरी तरफ ज्ञान के विरोध में कवि का जो व्यक्तित्व उभर कर सामने आया, वह था —'तथ्यों और तर्कों' के पीछे भागे बगैर अनिश्चितता, रहस्य-संदेह में रहने में समर्थ व्यक्ति का ।'[3]

---

1. Raymond Williams : 'Culture and Society', p. 53

2. Ibid.

3. Keats : 'Letters of John Keats', p.130

इस तरह हम देखते हैं कि स्वच्छंदतावाद की वैयक्तिकता के कई आयाम हैं । एक, अभिजात शास्त्रीयता के विरोध में कलाकार की आत्माभिव्यक्ति, जब कलाकार शास्त्रीय रूढ़ियों को अस्वीकार कर अपने को, अपने प्रणय को, अपने बेहद निजी संवेगों को सीधे-सीधे अभिव्यक्त करता है । "यह आत्माभिव्यक्ति यह बताती है कि कलाकार अपने भावों और विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता चाहता था । उसकी इस आकांक्षा में स्वाधीनता की कामना थी और अभिव्यंजना में साहस । हर देश में रोमांटिसिज्म का अभ्युदय प्रायः इसी आकांक्षा से हुआ है ।"[1]

वैयक्तिकता का दूसरा पहलू है – बुर्जुआ बाज़ारी संबंधों की दुनिया में खो चुके पाठक और कलाकार के संबंधों की रागात्मकता बहाल करने के लिए अपनी वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति, जिससे पाठक उसकी बुद्धि और चेतना के गहरे अंतर्द्वंद्वों का प्रत्यक्ष भागीदार हो ।

वैयक्तिकता का एक तीसरा आयाम है – अकेलापन । पूंजीवाद द्वारा पैदा की गयी व्यक्ति और समाज की टकराहट में व्यक्ति एक 'अकेले' व्यक्ति के रूप में उभरता है और समाज से अकेले ही जूझता है । इस स्थिति में जहाँ 'व्यक्ति' की शक्ति की पहचान है, वहाँ अकेले छूट जाने की घबराहट भी । अर्नस्ट फिशर के अनुसार –"फ्रांसीसी क्रांति के बुर्जुआ लोकतांत्रिक विद्रोह के बाद पहली बार कलाकार एक मुक्त कलाकार, एक मुक्त व्यक्तित्व है, लेकिन असंगति की हद तक मुक्त । निर्मम एकांत की हद तक मुक्त ।"[2]

1- नामवर सिंह – 'छायावाद', पृ0 20, संस्करण, 1968

2 . Ernst Fischer :'The Neccessity of Art',p.49

"For the first time in the history of mankind the artist became a free artist, a free personality, free to the point of absurdity, of icy loneliness."

लेकिन वैयक्तिकता का जो पहलू सर्वाधिक आकृष्ट करता है, वह यह कि स्वच्छंदतावादी कलाकार के लिए वैयक्तिकता का अर्थ 'व्यक्तिगत स्वार्थ' नहीं, मानवता के विशाल लक्ष्य तक पहुंचने का रास्ता है। व्यक्ति कैसा है, कैसा हो सकता है — मानव भावनाओं और मानव-बुद्धि की जटिलताओं की तह में जाकर स्वच्छंदतावाद की वैयक्तिकता यह बताती है कि एक व्यक्ति की पहली ज़िम्मेदारी दूसरे व्यक्ति के प्रति है। 'हम बार-बार उनके साहित्य की तरफ लौटते हैं, तो इसीलिए, कि वे मानवता के बारे में इतना जानते हैं।'[1]

ज़ाहिर है, फ्रांस की राज्यक्रांति और इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के अंतर्विरोध स्वच्छंदतावाद के बराबर प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के बीच बिखरते रहने के लिए ज़िम्मेदार हैं। जर्मनी के स्वच्छंदतावाद में इन दो क्रांतियों की भूमिका और भी स्पष्ट है। जर्मनी में बुर्जुआ लोकतंत्रीय क्रांति के आने से पहले ही कलाकार का मोहभंग हुआ। फ्रांसीसी क्रांति के बाद के पूंजीवादी परिणाम सामने थे, फलतः जर्मन कलाकार यह भ्रम भी नहीं पाल सकता था। पश्चिम में मोहभंग के बावजूद आशा के लिए जगह थी, क्योंकि वहां बुर्जुआ वर्ग के पीछे एक प्रगतिशील सर्वहारा वर्ग उभर रहा था। जर्मनी में यह आशावाद भी नहीं था।

जर्मन स्वच्छंदतावाद उसकी प्रतिक्रिया था। कलाकार ने वहां अपने समय के सामाजिक यथार्थ को मानने से ही इंकार कर दिया और अतीत में पलायन कर गया। हालांकि उसने अतीत के कुछ सकारात्मक पहलुओं को सामने रखा, जैसे अप्रत्यक्ष बाज़ारी संबंधों के स्थान पर अतीत के कलाकार-दस्तकार और खरीदार से सीधे रागात्मक संबंध, अकेली वैयक्तिकता की जगह सामंती समाज की सामूहिकता, लेकिन इन्हें उसने संदर्भ से निकालकर आदर्श या पूजनीय बना दिया। फ्रांसीसी क्रांति के प्रगतिशील चरित्र को समझे बगैर उसे खारिज कर देना जर्मन स्वच्छंदतावादियों की सबसे बड़ी कमज़ोरी थी। इस प्रतिक्रिया ने स्वच्छंदतावाद को आशा के स्थान पर

---

1. John Clubbe, Lovell. R. :'English Romanticism - The Grounds of Belief', p. 6

निराशा के घेरे दिए और 'शाश्वत मुक्ति' यानी मृत्यु की आकांक्षा दी। फ्रेडरिक श्लेगल ने लिखा —'जर्मन कविता अतीत में अधिक गई। अपनी जड़ें उसने मिथकों और जनकथाओं में ढूंढ़ी, जहां कल्पना की उड़ान के अलावा और कुछ न था। वह अगर कहीं समकालीन समाज के यथार्थ को पकड़ पाई तो सिर्फ व्यंग्य के ज़रिए।'[1] जर्मन स्वच्छंदतावादी अपने युग की नब्ज़ पकड़ नहीं पाए, जैसा कि नोवालिस ने भी लिखा था, कि 'अगर हम अपनी समझदारी और बाहर के विश्व में तालमेल बिठा सकें, तो इससे अच्छा और कुछ नहीं।'[2]

(ख) पूर्व का स्वच्छंदतावाद : देशी सामंतवाद और विदेशी साम्राज्यवाद के खिलाफ विद्रोह

स्वच्छंदतावाद की एक दूसरी मुद्रा उन देशों के साहित्य में दिखाई देती है, जहां पूंजीवादी विकास की गति इतनी तीव्र नहीं हो पाई थी, कि उसके अंतर्विरोध स्पष्ट हो पाते। इसलिए कला के माल बन जाने और पाठक कलाकार के संबंधों में दूरी आ जाने से पश्चिमी यूरोप में कलाकार जिस 'अकेली' वैयक्तिकता का शिकार हुआ था और जिन बुर्जुआ व्यावसायिक मूल्यों का उसने विरोध किया था, वैसी स्थिति पूर्वी यूरोप के देशों — रूस, हंगरी, पोलैंड आदि और एशिया में भारत में स्वभावतः नहीं थी। ये देश चूंकि अब भी पतनग्रस्त मध्यकालीनता के नीचे पिस रहे थे, अतः मुक्ति की जो चेतना यहां जन्मी, उसका अर्थ था — मध्यकालीन मूल्यों से मानव-व्यक्तित्व की मुक्ति और देशी सामंतशाही या विदेशी साम्राज्यवाद के खिलाफ विद्रोह के लिए जनता का आह्वान।

रूस को लें, तो वहां अभी सामंती – दासस्वामी वर्ग की एकछत्र सत्ता थी, जिसे किसानों-दासों के कई विद्रोह बराबर चुनौती देते रहे थे।

---

1. Ernst Fischer : 'The Necessity of Art', p.58

2. Ibid.

पुगाचोव के नेतृत्व में किसान विद्रोह (1773-75) दासत्व से मुक्ति के लिए भूदासों की जागरूकता और एकजुटता का ही परिचायक था । लेकिन उसके बाद अलेक्ज़ांद्र प्रथम के शासन का पहला दौर (नेपोलियन की पराजय तक) तुलनात्मक रूप से उदारवादी रहा था, जब सुधारों के ज़रिए संवैधानिक सरकार तक पहुंचा जा रहा था । नेपोलियन को युद्ध में हानि के बाद रूसी मानस जहां अपनी राष्ट्रीयता के प्रति जागरूक हुआ, वहीं 'आज़ादी' का अर्थ भी समझने लगा । यह अर्थ था –दास प्रथा का अंत और समाज के ढांचे में बुनियादी परिवर्तन । इसी पृष्ठभूमि में संभ्रान्त कुलीन परिवारों के सैनिक अफसरों ने नयी व्यवस्था का सपना देखा था –सशस्त्र विद्रोह संगठित कर स्वेच्छाचारी शासन का तख्ता पलटने, भूदासत्व का उन्मूलन करने और क्रांतिकारी संविधान स्वीकार करने का सपना । दिसंबर 1825 का यह विद्रोह नए शासक निकोलाई प्रथम द्वारा बुरी तरह दबा दिया गया । लेकिन दिसंबरियों का यह विद्रोह रूस के इतिहास में निर्णायक मोड़ सिद्ध हुआ ।

स्वच्छंदतावाद इसी दौर की उपज था । सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष और मुक्ति की आकांक्षा दी पुश्किन, लेर्मेन्तोव, गोगोल, बेलिन्स्की आदि में अभिव्यक्त हुई । पुश्किन ने लिखा –"जेल की कोठरी के बाहर एक बाज है । वह मुझसे कहता है – इस बार उड़ चलो, जहां अकेले बादल हिम्मत से घूमते हैं, लहरें आसमान से मिलने को मचलती हैं ।"[1] लेर्मेन्तोव ने भी लिखा –"मेरी बेड़ियां तोड़ डालो और मेरी कोठरी खोल डालो । मैं दिन की रोशनी को देखना चाहता हूं । बसंत आ गया है । मेरी जेल कोठरी अंधेरी है । धुएं से काले पड़ गए लैंप की अनिश्चित, अनमनी रोशनी और सलाखों के पीछे बिना चेहरे के संतरी के नपे-तुले कदम मुझे कोई गरमाहट नहीं देते ।"[2]

---

1. Pushkin : 'Selected Works', p. 28

2. Lermontov : 'Selected Works', p. 32

(ग) स्वच्छंदतावाद: भारतीय सन्दर्भ

बंधनों की कारा तोड़ने की यही आकांक्षा भारतीय सन्दर्भों में भी बार-बार दोहराई जाती है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति की आकांक्षा यहां स्वच्छंदतावाद की प्रेरक बनती है। यह साम्राज्यवाद विरोध कलाकार में भी है, जनता में भी, इसलिए पश्चिम के स्वच्छंदतावाद की तरह यहां कलाकार में जनता के प्रति उदासीनता की भावना नहीं मिलती। इसलिए वैयक्तिक चेतना का सीधा सरोकार सामूहिक संघर्ष से रहता है।

भारत में स्वच्छंदतावाद उस दौर की उपज है जब स्वाधीनता आंदोलन ब्रिटिश राज के खिलाफ संगठित विद्रोह का रूप ले लेता है। हालांकि 1857 की क्रांति ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ विद्रोह की पहली गूंज है, लेकिन क्रांति के बाद समाज के हर वर्ग में (चाहे वह शोषण और दमन का शिकार किसान-मजदूर हो या ब्रिटिश पूंजीवाद से अपने हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील भारतीय पूंजीपति वर्ग, या बौद्धिक रूप से अपने हकों के लिए सचेत मध्यवर्ग), साम्राज्यवाद से मुक्ति की आकांक्षा कठोर दमन के बावजूद बढ़ती ही जाती है। ग़ालिब की यह इच्छा, कि 'रहिए अब ऐसी जगह, चलकर जहां कोई न हो', कहीं न कहीं उसी रोमांटिक भावना की अभिव्यक्ति है, जब व्यक्ति 'बेदरोदीवार का घर' बनाना चाहता है, क्योंकि दीवारों के भीतर (चाहे वे दासता की दीवारें हों या मध्यकालीन मूल्यों की) दम घुटता है।

यही कारण है कि कलाकार 'मैं' की पीड़ा को सामूहिक पीड़ा से जोड़कर देखता है और निर्झर बनकर पाषाण की कारा को तोड़कर 'जगत' की करुणा से सराबोर करने की बात करता है।[1] निर्झर जिस तरह भारतीय

1- केदारनाथ सिंह –'कल्पना और छायावाद', पृ0 53 पर उद्धृत रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'निर्झरेर स्वप्न भंग' नामक कविता –"

"आमि ढालिबो करुणाधारा। आमि भांगिबो पाषान कारा।
आमि जगत प्लाबिया बेड़ाब गाहिया आकुल पागल प्राण।"

मानस की साम्राज्यवादी पराधीनता को तोड़कर मुक्त वातावरण में सांस लेने की स्वच्छंदता का प्रतीक बनता है, वैसे ही पंछी भी ; और कलाकार विहग के साथ उड़कर उस जगह की तलाश करता है, जहां हमेशा प्रेम-प्रीत और समानता की गंगा बहती है ।[1] लेकिन उसके लिए जरूरी है बुलबुल की पिंजरे से मुक्ति, ऐसा साहस और आत्मशक्ति, कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पत्ते पीले पड़ गिर जाएं ।[2] जिंदगी का ही दूसरा नाम कलाकार के लिए क्रांति हो जाता है ।[3] 'स्वातंत्र्य-देव' की कल्पना कलाकार के लिए ईश्वर में खो गई आस्था की तलाश ही है, जब वह स्वातंत्र्य-देवता से पैरों की शृंखलाएं काट डालने, हाथों की हथकड़ियां तोड़ डालने की प्रार्थना करता है ।[4]

यह मुक्ति ब्रिटिश साम्राज्यवाद से भी है, मध्यकालीन सामंती मूल्यों, अंधविश्वासों और अवधारणाओं से भी । किस तरह भारतीय मानस विदेशी गुलामी में अपना घर जलते देखकर भी मध्यकालीन जातिवादी मूल्यों से बाहर निकलने को तैयार नहीं, उस पर भी कलाकार व्यंग्य के जरिए प्रतिरोध करता है ।[5]

1- गोपाल शर्मा (सं0) -'भारतीय भाषाओं का संक्षिप्त इतिहास', पृ0 25 पर उद्धृत असमी कवि रघुनाथ चौधरी -

"तोमार लगते उरि जाओ विहंगिनी । सदाय बहे यत प्रेम मंदाकिनी"

2- वही, पृ0 125 पर उद्धृत कश्मीरी कवि महजूरमी -

"करी कुस बुलबुला आज़ाद पिंजरस मंजहि नालान कुकि
कि पनिन्य दस्ति पनिन्यन मुश्किलन आसान पैदा कर"।

3- वही, पृ0 124 पर उद्धृत कश्मीरी कवि आज़ाद -

"जिंदगी क्या ईंकलाबन हिज़ किताब
ईंकलाबो, ईंकलाबो, ईंकलाब ।"

4- वही, पृ0 196 पर उद्धृत मलयालम कवि आशान की एक कविता से-।

5- वही, पृ0 213 पर उद्धृत मलयालम कवि वल्लतोल की एक कविता का भावार्थ-

"चाहे घर राख हो जाए, तुम अपनी हैसियत भुलाकर मेरे कुएं पर पानी खींच कर उसे अशुद्ध मत करो ।"

(3) हिन्दी में स्वच्छंदतावाद अर्थात छायावाद

भारतेन्दु युग में मुक्ति की आकांक्षा राष्ट्रप्रेम और सामाजिक जागरण के प्रयासों में अभिव्यक्त हुई और साहित्यिक परंपराओं से विद्रोह में स्वच्छंदतावाद के पूर्वस्वर सुने जा सकते हैं। उदाहरण के लिए मध्यकालीन मूल्यों से जुड़ी ब्रजभाषा के बहिष्कार की प्रक्रिया का आरंभ केवल एक भाषा से छुटकारा पाने का निर्णय नहीं था, मध्यकालीन मूल्यों से छुटकारा पाने की भी घोषणा थी। भारतेन्दु के समकालीन ठाकुर जगमोहन सिंह का हिन्दी अनुवाद के लिए पहलेपहल 'बायरन' की कविता को चुनना, इसी बात का संकेत है, कि उस दौर में स्वच्छंदता कलाकार को आकृष्ट कर रही थी। इसी क्रम में श्रीधर पाठक ने 'गोल्ड स्मिथ' के 'द एरमिट' का हिन्दी अनुवाद किया और 'एकांतवासी योगी' लोकमर्यादा और नियंत्रण से परे वैयक्तिक प्रेम की स्वच्छंद अभिव्यक्ति का पहला उदाहरण बना। रामनरेश त्रिपाठी ने अपने खंडकाव्यों (मिलन, 'पथिक,' और 'स्वप्न') में पहली बार 'ऐतिहासिक-पौराणिक कथाओं में न बंधकर अपनी भावनाओं के अनुकूल स्वच्छन्द संचरण के लिए' कल्पना द्वारा नूतन प्रेम-कथाओं की उद्भावना की। स्वयं शुक्ल जी ने 'शिशिर पालिका' में नायक-नायिका की वैयक्तिक अनुभूतियों को महत्व दिया। मुकुटधर पांडेय ने प्रकृति के साधारण, असाधारण रूपों पर प्रेम-दृष्टि डालकर उससे आत्मीय संबंध स्थापित किए।

स्वच्छंदतावाद का यह पूर्वाभास ही रहा। स्वच्छंदतावाद की वेगवती धारा इस दौर में न फूटी तो संभवतः इसकी वजह थी – ब्रजभाषा और खड़ी बोली की भाषिक विधा, जिसमें ब्रज पद्य रचना का माध्यम थी और खड़ी-बोली गद्य का। यही द्विधा कहीं न कहीं रचनाशील मानस की निर्बाध अभिव्यक्ति में आड़े आती थी। खड़ी बोली में कविता का यह प्रयोगात्मक दौर था।

1- रामचंद्र शुक्ल –'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० 426, 21 वां संस्करण संवत 2042 वि०

इस दौर में उसका परिष्कार और मार्जन तो खूब हुआ लेकिन उसमें वह माधुर्य, लालित्य और लयात्मकता न आ पाई, जो ब्रज की प्रकृति में थी और जो स्वच्छंदतावाद की प्रगीतात्मकता का प्राणतत्व भी थी। बहरहाल पंत के 'पल्लव' की भूमिका ही वस्तुतः स्वच्छंदतावाद का घोषणापत्र बनी, कुछ-कुछ वर्ड्सवर्थ की 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका की तरह, और 20 वीं सदी के दूसरे-तीसरे और चौथे दशक (1918-36) में यह स्वच्छंदतावाद 'छायावाद' नाम से जाना गया।

यह वह निर्णायक दौर है, जो स्वाधीनता आंदोलन के भविष्य के स्वरूप को निर्धारित करता है। पूंजीपति-जमींदार वर्ग के हितों और जन आंदोलन में टकराव का वह दौर, जब एक तरफ समूचे देश में क्रांतिकारी असंतोष की व्यापक लहर उठती है, जुलूसों-हड़तालों के लंबे सिलसिले चलते हैं, किसानों से लेकर रेल-कर्मचारियों और मिल-मजदूरों तक - समाज का हर हिस्सा विद्रोह के रास्ते पर उतर आता है, रूसी क्रांति से प्रेरणा लेकर विदेशी साम्राज्यवाद से टक्कर लेने को तैयार मजदूरों, किसानों की पार्टियां, ट्रेड-यूनियनें बनती हैं, कांग्रेस के भीतर ही वामपंथी गुट का जन्म होता है, लेकिन दूसरी ही तरफ कांग्रेस हिंसा की ओर जाते व्यापक जन-असंतोष को न संभाल सकने के कारण बार-बार आंदोलन वापिस ले लेती है और सुधारों, अहिंसात्मक असहयोगों और समझौतों की नीति अपनाती है। आंदोलन शुरू करने के नए-नए उत्साह, वापिस लेने पर या उनमें ढील पड़ने पर टूटन, पराजय और जड़ता के लंबे दौर, भविष्य की अनिश्चितता - तमाम बातें उस वक्त की चेतना को निर्धारित करती हैं। जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं -

"भविष्य के बारे में हमारी सामने अब भी कुछ स्पष्ट नहीं था। कांग्रेस अधिवेशन में प्रदर्शित उत्साह के बावजूद कोई यह नहीं जानता था कि संघर्ष के कार्यक्रम में देश के लोग कहां तक साथ चल सकेंगे। हम जिस स्थल तक पहुंच गए थे, वहां से हम लौट नहीं सकते थे, पर आगे का रास्ता हमारे लिए एकदम अज्ञात था।"[1]

1- जवाहरलाल नेहरू : 'आत्मकथा', पृ० 202

यही वैचारिक अस्पष्टता स्वच्छंदतावादी कलाकार की भी सबसे बड़ी कमजोरी थी, जो शिक्षित मध्यवर्ग से जुड़ा होने के कारण अपने नागरिक अधिकारों के प्रति सचेत था, शोषण की व्यवस्था के खिलाफ अपने ढंग से प्रतिबद्ध भी । 'वह मानव व्यक्तित्व के स्वाधीन विकास और रागात्मक सामाजिक व्यवस्था के प्रति प्रयत्नशील था, लेकिन नए आदर्शों के बारे में उसकी धारणा अभी अस्पष्ट और काल्पनिक थी ।'[1]

यही वैचारिक अस्पष्टता स्वच्छंदतावाद के चरित्र को निर्धारित करती है, चाहे वह उसकी वैयक्तिकता हो या कल्पना ; अतीत प्रेम हो या प्रकृति प्रेम । महादेवी जब कहती हैं कि 'आज का साहित्यकार अपनी प्रत्येक सांस का इतिहास लिखना चाहता है' या निराला जब 'मैं' शैली अपनाने की बात करते हैं, तो इस 'मैं' की निजता और आत्मीयता के पीछे आधुनिक युवक का पूरा विद्रोही व्यक्तित्व छिपा है जो तत्कालीन रूढ़िग्रस्त समाज में अपने को सीधे-सीधे व्यक्त करने की सामाजिक स्वाधीनता चाहता है । रूसो के 'कन्फेशन' की तरह वह भी मनुष्य की पूरी और सच्ची तस्वीर पाठकों के सामने रखना चाहता है — जैसा वह है — नीच, घृणास्पद, भला, उच्चाशय और उदात्त । अपनी दुर्बलताओं को खोलने में उसे शर्म नहीं, क्योंकि उन गलतियों से ही सीखा जा सकता है । स्वच्छंदतावादी कलाकारों की सबसे बड़ी खूबी यही है कि वे पत्थर पर लकीर नहीं खींचते । जीवन के हर मोड़ पर नया सीखने और खुद को बदलने को तैयार रहते हैं । ऐसी ही स्थिति में फिर समाज को बदला जा सकता है । निराला कहते हैं — "समाज वही जीवित है, जो आवश्यकतानुसार अपना रूप बदल सकता है, न कि वह जो कुछ पुरानी लकीरों का फकीर हो ।"[2]

प्रेम की रीतिकालीन सामंती मान्यताओं और रूढ़ मर्यादाओं की लकीर पीटने का स्वच्छंदतावादी कलाकार ने सबसे पहले अपने प्रणय संबंधों पर

1- चेलिशेव : 'सुमित्रानंदन पंत तथा आधुनिक हिंदी कविता में परंपरा और नवीनता', पृ० 5, संस्करण, 1970

2- 'निराला रचनावली', भाग-6, पृ० 302- 'सुधा' मासिक की सम्पादकीय टिप्पणी ।

खुलेआम लिखा, देवी-देवताओं में प्रेम के आरोप का पुराना रीतिकालीन ढंग छोड़कर। इसीलिए नारी भी प्रेम की 'वस्तु' नहीं, मित्र या सहचरी है। पंत का कथन — 'वह बालिका मेरी मनोरम मित्र थी' या प्रसाद का 'उसकी स्मृति पाथेय बनी है, थके पथिक की पंथा की' कहकर अपने प्रेम का प्रकाशन दरअसल 'जनतांत्रिक भाव की विजय है। यह मध्यवर्ग की पहली सामाजिक स्वाधीनता है।'[1]

कलाकार की इस आत्माभिव्यक्ति ने उसे 'मैं' की सीमाओं में बांधा नहीं (उसका अहं नयी कविता के अहं से भिन्न है), बल्कि उसके मानसिक क्षितिज का विस्तार कर 'छोटे से घर की लघु सीमा' तोड़ कर विश्वबंधुत्व और मानवता तक पहुंचाया। महादेवी की असीम से मिलने की इच्छा इसी आत्मप्रसार की आकांक्षा की अभिव्यक्ति है, जहां 'व्यक्ति' की निजी पीड़ा 'दुखी निज भाई' की, पूरे समाज, पूरे देश और पूरे विश्व की पीड़ा हो जाती है। प्रसाद की अतीत की व्यक्तिगत स्मृतियों के आंसू फिर लोकपीड़ा पर करुणा के आंसू हो जाते हैं, लेकिन कहीं न कहीं लोकपीड़ा पर आंसू बहाने वाला कलाकार मिथ्या अहंभाव का शिकार भी होता है, जब वह सभी समस्याओं का समाधान ढूंढने की दंभयुक्त घोषणा करने लगता है।

इसी तरह प्रकृति स्वच्छंदतावादी कलाकार के लिए मुक्ति की प्रेरणा और विद्रोह की अभिव्यक्ति – दोनों थी। अभिव्यक्ति इसलिए, कि वह उद्दीपन का काम करने वाली चीज नहीं रही, कि नायिका का षड्ऋतु वर्णन या बारहमासा पूरा हो सके, बल्कि प्रकृति उसके लिए एक पूरी चेतना थी – स्वतंत्र, उन्मुक्त चेतना। प्रकृति के खुले वातावरण में ही उसे जन्मभूमि से प्रेम हुआ था। रामचंद्र शुक्ल मानते थे कि यदि किसी को अपने देश से प्रेम है, तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु-पक्षी, लता-गुल्म, पेड़-पत्ते, वन-पर्वत, नदी-निर्झर सबसे प्रेम होगा। यही प्रेम फिर प्रेरणा बन गया। प्रलय का विनाशकारी रूप हो झरने का कड़ी-चट्टानों को काट

1- नामवर सिंह - 'छायावाद', पृ० 17

पाना, पेड़ के सूखे पीले पत्तों का झड़ जाना हो या नयी गुलाबी कोंपल का निकलना, प्रकृति कलाकार को पुरानी जीर्ण-शीर्ण व्यवस्था को हटाकर परिवर्तन का संदेश देती थी। प्रकृति के एकांत में ही कलाकार ने अपने व्यक्तित्व को दुबारा पहचाना था, अपनी क्षमताओं का पुनः संयोजन किया था – कर्मक्षेत्र में कूद पड़ने के लिए। प्रसाद ने लिखा था –'वन, गुहा कुंज मरु अंचल में हूं खोज रहा अपना विकास।' किंतु यही प्रकृति कुछ विशेष क्षणों में खुद को भूल जाने का माध्यम भी थी।

वह कल्पना थी, जो कलाकार के व्यक्तित्व की बुनियादी चीज़ थी, 'उसके मन की पांख' थी, उसकी स्वतंत्रता, मुक्ति, विद्रोह, आनंद की प्रतीक थी, जिसमें कलाकार शाश्वत प्रभात, सौंदर्य, प्रेम और शांति का जगत ढूंढता था, वही कल्पना कभी वास्तविकता से पलायन का साधन भी थी। इसी तरह कलाकार का अतीत का आदर्शीकरण, जो अतीत की गौरवशाली संस्कृति के स्मरण से भविष्य के युद्ध की तैयारी है, वर्तमान से असंतुष्टि के कारण अतीत मोह बनकर भी रह गया।

यही असंगति रहस्यवाद में भी है। रहस्यवाद एक तरफ मानव और प्रकृति के बीच टूट गए रागात्मक संबंधों को फिर से जोड़ने की कला की अभिव्यक्ति है, जब कलाकार ज्ञान-विज्ञान के प्रसार में प्रकृति के अनेक खुले-अनखुले रहस्यों में विश्व की विराटता का बोध करता है और रागात्मक ढंग से एक प्रकृति नियंता कारण को ढूंढना चाहता है। कहीं न कहीं भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के संस्कार भी इस रहस्यवाद के जिम्मेदार रहे हैं। लेकिन दूसरी ही तरफ स्वातंत्र्य चेतना और आत्मप्रसार की आकांक्षा से उद्दीप्त रहस्यवाद, जिसे मुक्तिबोध 'फैंटेसी' की चादर कहा करते थे, स्वच्छंदतावाद का कमजोर पहलू बनकर भी उभरता है, जब वह परोक्ष चिंतन और अटपटी शैली से जाता है, जिसे अपने लोकमंगल का विरोधी पाकर रामचंद्र शुक्ल उसका तिरस्कार करते हैं।

ऐसी ही एक असंगति छायावाद के रचनाविधान में भी देखी जा सकती है। स्वच्छंदतावादी कलाकार ने रीतिकालीन भाषिक परंपरा और साहित्यिक रूढ़ियों से विद्रोह किया था। उसने ब्रजभाषा की पूरी भाषिक संस्कृति को छोड़कर

खड़ी बोली में कविता की । पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में लिखा कि — 'कवि ब्रज की जीर्ण-शीर्ण, छिद्रों से भरी, पुरानी छींट की चोली नहीं चाहता था । उसकी संकीर्ण कारा में बंदी होकर आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती थी और शरीर का विकास रुक जाता था ।' खड़ी बोली में कविता करने की पूरी संभावनाएं कवि ने खोजी तो ब्रज की कोमलता की बराबरी करने के लिए उसने बंगला से तत्सम बहुल पदावली ली । लेकिन इस तरह एक कृत्रिम भाषा गढ़कर उसने विद्रोह से ज्यादा शास्त्रवाद का परिचय दिया क्योंकि यह खड़ी बोली खालिस तत्सम शब्दों और समस्त पदों की बहुलता के कारण, क्रियाहीनता के कारण अस्पष्टता और दुरूहता का शिकार हुई । छायावाद ने रीतिकालीन रूढ़ियों का तिरस्कार किया था, लेकिन उसकी खुद की रूढ़ियां बन गईं — उपमानों के ढेर, लक्षणा पर बल, शब्दों का मनमाने ढंग से प्रयोग को नियम बना लेना, अर्थवैचित्र्य, भाववादी अमूर्त चित्र आदि ।

इसी संदर्भ में एक और बात स्पष्ट कर देना जरूरी है । गांधीवाद के समानांतर चलने वाला स्वच्छंदतावाद गांधीवादी दर्शन का साहित्यिक पर्याय नहीं है । मैथिलीशरण गुप्त और निराला को सामने रखकर इस बात को अच्छी तरह समझा जा सकता है । वस्तुतः छायावादी कलाकार का मोह गांधीवाद के साथ उसी हद तक रहा है, जब तक वह व्यापक जन-आंदोलन है । जब गांधीवाद ने समझौतों और सुधारों की राजनीति अपनाई है, वहां वह उससे हटकर के चलता है । निराला की 'सुधा' की संपादकीय टिप्पणियां देखें तो वह (1929) में महात्मा गांधी की 'पूर्ण स्वाधीनता' की मांग', राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दुस्तानी का चयन, आदि की प्रशंसा करते हैं और महात्मा गांधी की गिरफ्तारी पर सरकार की आलोचना करते हैं, लेकिन कांग्रेस सम्मेलनों की कार्यवाहियों के खोखलेपन का वह खूब विरोध करते हैं — "ठीक वही पुरानी प्रस्तावों की प्रथा, वही संशोधनों, अनुमोदनों और पुनरनुमोदनों का दकियानूसी पचड़ा, वही धुंआधार स्पीचों और अकर्मण्य हृदयों की आवाजें ।"[1] गांधी का महत्त्व उनके लिए उसी स्थिति में है जब वह किसानों-

1- निराला रचनावली, भाग-6, पृ० 239

DISS
O,152,3,M96:g
152M5
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY LIBRARY
TH-1830

मज़दूरों — आम जनता को आंदोलन में साथ लेकर चलते हैं । इसीलिए वह धरसना और धारवाड़ा के नमक कारखानों में दखल देने के गांधी जी के अभियान का समर्थन करते हैं, क्योंकि "नमक के कारखाने में जनि का गांधी जी का अभिप्राय था साधारण जनों की तरफ से जाकर रक्षित नमक के स्वत्व पर दखल करना, जिससे लोगों के एक बड़े दुख का निवारण हो ।"[1] गांधीवाद से उन्हें जो सबसे बड़ी शिकायत है, वह है 'क्रियात्मक प्रोग्राम का एकांत अभाव', और आदर्शवाद की ऊंची उड़ान । स्वदेशी के प्रसंग में निराला लिखते हैं —"गरीब हिंदुस्तानियों से ग्यारह आने गज वाली खद्दर की गुण-ग्राहकता की उम्मीद करना वस्तुस्थिति से मुंह चुराना है । न मालूम, कब देश के कार्यकर्त्ता आदर्शवाद की ऊंची उड़ान समाप्त करके हिन्दोस्तानियों के इस गरीब और गंदे लोक में आएंगे ? भला इस प्रकार की महंगी चीजों के प्रदर्शन से क्या लाभ हो सकता है ? उल्टे स्वदेशी वस्तुओं की ओर से श्रद्धा हट जाती है ।"[2]

स्वाधीनता आंदोलन का आम जनता-किसान-मजदूर की भागीदारी वाला पहलू निराला का ही नहीं, प्रेमचंद का भी प्रेरक है । आलोचकों की यह आम धारणा रही है, प्रेमचंद को यथार्थवादी या आदर्शोन्मुख यथार्थवादी मानना और निराला को छायावादी और गैर-यथार्थवादी मानना, जबकि इन दोनों में कई अर्थों में एक सी चेतना का विकास देखा जा सकता है — वह यह, कि दोनों पूरी ईमानदारी से आम जनता से जुड़ते हैं । वे किसान और मजदूर पर होने वाले अन्याय और शोषण के खिलाफ लड़ते हैं, तो आम मध्यवर्गीय आदमी की आकांक्षाओं और समस्याओं को भी समझते हैं । उनके लिए आज़ादी का मतलब सिर्फ ब्रिटिश साम्राज्यवाद से आज़ादी नहीं, क्योंकि उस स्वराज्य के बाद भी देशी पूंजीपतियों का

1- निराला रचनावली, भाग-6, पृ० 286

2- वही, पृ० 241

शोषण चक्र जनता को मुक्ति नहीं देगा, क्योंकि महात्मा गांधी का स्वराज्य सिर्फ 'जान की जगह गोविंद को बिठाना' होगा। इसलिए निराला लिखते हैं कि 'हर प्रकार की परतंत्रता से मुक्ति तभी मिल सकती है, जब वह अपनी परतंत्रता के स्वरूप को पहचाने।'[1] यह नहीं कि समाज की सब कमजोरियों-समस्याओं को यह कहकर टाल दे कि उन्हें दूर करने के उपाय स्वराज्य-प्राप्ति के बाद ही सोचे जाएंगे। गुलामी सिर्फ अंग्रेजों की नहीं है, मस्तिष्क की भी है। हमारी राजनीति का उद्देश्य इस गुलाम मस्तिष्क से आज़ादी पाना भी है। प्रेमचंद हों या स्वच्छंदतावादी कलाकार, इस बात को वे अच्छी तरह समझते हैं और उसके लिए प्रयास भी करते हैं।

गांधीवाद इसी प्रयास का एक रास्ता है, जो इन सब को प्रभावित करता है, अन्यथा स्वच्छंदतावाद गांधीवाद का साहित्यिक पक्ष नहीं है। पंत जैसे गांधीवाद से एक विशेष दौर में इस कदर प्रभावित होते हैं कि गांधीवाद और मार्क्सवाद को मिलाकर नए समीकरण बनाने की कोशिश करते हैं। जहां तक प्रसाद का सवाल है, उन्होंने अपने नाटकों में गांधीवादी हृदय परिवर्तन की नहीं, सक्रिय प्रतिरोध की बात की है, शस्त्र उठाकर विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने का आदर्श रखा है।

यही वजह है कि रामविलास शर्मा छायावाद को स्वाधीनता आंदोलन का साहित्यिक वामपक्ष कहने के पक्ष में हैं। उनके लिए छायावाद भारत में आमूल सामाजिक क्रांति की आकांक्षा का साहित्य है। वे लिखते हैं -"इतिहास के प्रति छायावादी कवियों का दृष्टिकोण स्वाधीनता आंदोलन की राजनीतिक प्रेरणा से ही निर्धारित नहीं होता, वह स्वाधीनता आंदोलन के साथ चलने वाली सामाजिक क्रांति से भी प्रभावित होता है।"[2] वामपक्ष इसलिए, चूंकि वह एक क्रांतिकारी समानियम लेकर आता है। उसकी सबसे समर्थ प्रवृत्ति है - संघर्ष की। साम्राज्य विरोधी

1- निराला रचनावली, भाग-6, पृ० 293

2- रामविलास शर्मा -'निराला की साहित्य साधना', भाग-2, पृ० 560

और सामंत विरोधी संघर्ष की । यह क्रांतिकारी रूमानियत ही है कि वह विप्लव, विद्रोह और क्रांति की ज्वाला के साथ ही समाज में आमूलचूल परिवर्तन की उत्कट अभिलाषा करता है, लेकिन अपने मध्यवर्गीय चरित्र के कारण पराजय, हताशा और अवसाद का शिकार होता है, या उनके आदर्शवादी समाधान खोज लेता है । दरअसल, तीसरे-चौथे दशक में स्वच्छंदतावादी कलाकार की जो आस्था गांधीवाद से डिगती है, समझौते और हृदय-परिवर्तन की जगह वह सक्रिय संघर्ष का रास्ता चुनता है, किसानों के संगठन और उनके सामंत विरोधी संघर्ष का महत्व पहचानता है, लेकिन उसकी दृष्टि समाधानवादी रहती है । वह अपने सामाजिक संस्कारों से एकदम अलग नहीं हो पाता, और जल्दबाजी में हर समस्या का हल ढूंढ लेता है ।

इसी परिप्रेक्ष्य में स्वच्छंदतावाद के यथार्थवाद से संबंध की बात भी उठती है । कुछ लोग इन्हें परस्पर विरोधी मानकर चलते हैं, चूंकि स्वच्छंदतावाद का संबंध कल्पना से है, यथार्थवाद का वास्तविकता से । जैसे कल्पना और वास्तविकता भी एक दूसरे के विरोधी नहीं । कल्पना वास्तविकता पर ही आधृत होती है और किसी वास्तविकता के निर्माण के लिए पहले कल्पना ही करनी पड़ती है । जहां तक स्वच्छंदतावाद और यथार्थवाद के एक-दूसरे के विरोधी होने की बात है, यह संबंध बहुत जटिल है और दो 'वादों' के दायरे बांधकर उसे सपाट रेखाओं में चित्रित नहीं किया जा सकता । साहित्य के 'वाद' दार्शनिक या वैज्ञानिक प्रणालियां या फार्मूले नहीं होते, वे साहित्य के दृष्टिकोण होते हैं । मुक्तिबोध का मानना है कि रोमांस और यथार्थवाद में केवल परिस्थिति का भेद है । यथार्थवादी का दृष्टिकोण बाह्य वास्तविकता के संघर्ष से उत्पन्न होकर बहिर्मुख होता है, जबकि रोमांटिक कलाकार का दृष्टिकोण अपने आंतरिक जगत के प्रति होता है ।[1]

गोर्की ने स्वच्छंदतावाद में दो प्रवृत्तियों की बात की है । 'एक, निष्क्रिय स्वच्छंदतावाद (पैसिव रोमांटिसिज्म) जब व्यक्ति जिंदगी को, जैसी वह है,

---

1- मुक्तिबोध – 'नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र', पृ० 110

स्वीकार कर लेता है और उससे विरक्त होकर अपने अंतर्जगत में इस कदर डूब जाता है कि प्रेम, पीड़ा, मृत्यु आदि से उबर नहीं पाता । दूसरी प्रवृत्ति वह है, जब व्यक्ति जिंदगी के अप्रिय यथार्थ को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर लेता, उसे अपने अनुसार बनाने के लिए संघर्ष करता है । संघर्ष नहीं भी करता, तो संघर्ष का सपना ज़रूर देखता है । यह सक्रिय स्वच्छंदतावाद (एक्टिव रोमांटिसिज्म) है ।'[1]

यथार्थवाद इसी स्वच्छंदतावाद के चोखटे में से विकसित हुआ । कलाकार का वैयक्तिक विद्रोह, जो उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया था उस यथार्थ के खिलाफ, जिसे वह स्वीकार नहीं करना चाहता था, वही विद्रोह नयी व्यवस्था का सपना देखने में व्यक्त हुआ । उसने सिर्फ सपना ही नहीं देखा, उसे साकार करने के लिए अपने स्तर पर प्रयास भी किया । इस प्रक्रिया में उसने समाज के अंतर्विरोधों को पहचाना भी और खुद भी उन असंगतियों का शिकार हुआ ।

अंततः प्रसाद की यथार्थवाद और छायावाद के संबंध की परख में स्वच्छंदतावाद के मूल चरित्र को पहचाना जा सकता है । उनका मानना है कि 'छायावाद तो वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति है और यथार्थवाद का मूलभाव भी वेदना ही है । जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृत्ति आवश्यक हो जाती है । यथार्थवाद का अभिप्राय है — सामान्य जन की ओर, लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात, संकीर्ण संस्कारों के प्रति स्वाभाविक द्वेष, व्यक्तिगत जीवन के दुख और अभावों का वास्तविक उल्लेख और उस व्यापक दुख संवलित मानवता को स्पर्श करना । वह जन-साधारण के अभाव और उसकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयास करता है, किंतु केवल यथार्थ और नग्नता का ही चित्रण यथार्थ नहीं । उसे समाज के सुख का भी ध्यान होना चाहिए । दुखदग्ध जगत और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है ।'[2]

1- मक्सिम गोर्की — 'आन लिटरेचर', पृ० 32

2- प्रसाद — 'काव्य, कला और अन्य निबंध, पृ० 118-119

द्वितीय अध्याय

स्वच्छंदतावाद और निराला के उपन्यास

(1) स्वच्छंदतावाद और उपन्यास

प्रसाद के आनंदवाद और दु:खवाद की अवधारणाओं में जाये बगैर अगर हम उसका अर्थ खोजें, तो स्वच्छंदतावाद में दु:ख-संवलित मानवता है, लेकिन सुख के, आनंद के, उन्माद के क्षण भी । उसमें जीवन की स्वीकृति है — उल्लास की भी, विषाद की भी । कलाकार की चेतना का अर्थ भी केवल व्यवस्था पर दुखी होकर रह जाने तक नहीं है, आगे बढ़कर उसकी आलोचना करने और अपनी समझ और विचारधारा के अनुरूप उसके समाधान खोजना भी है । किसी भी रचना के पीछे बाह्यजगत या अंतर्जगत की कोई न कोई ऐसी अवधारणा या समस्या जरूर होती है, जो समाज के साथ-साथ स्वयं कलाकार के लिए भी चुनौती की तरह होती है, जिसका समाधान वह खुद भी तलाशता है, रचना के माध्यम से उसे प्रश्न के रूप में पाठक के सामने भी रखता है । स्वच्छंदतावाद के दौर का गद्य-लेखन वस्तुत: इसी तलाश का परिणाम है ।

निराला ने अगर गद्य को 'जीवन-संग्राम की भाषा' कहा, तो इसीलिए कि जो लड़ाई रचनाकार कविता द्वारा न कर पा रहा था, वह उसने गद्य में की । यह लड़ाई थी मध्यकालीन मूल्यों के खिलाफ वैयक्तिकता की, (जीवन में भी और साहित्य में भी) और गद्य इसी आधुनिकता की पहचान और माध्यम-दोनों था ।

उपन्यास गद्य की वह विधा थी, जिसके माध्यम से युग की बौद्धिक चेतना ने शास्त्रीय और मध्यकालीन परंपरा का निषेध किया । राल्फ फाक्स का मानना है कि —'आधुनिक युग की जटिल वास्तविकता के समग्र चित्रण के लिए

उपन्यास ही सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम था ।'[1] उसकी रचना-प्रक्रिया की बुनियादी विशेषताएँ – विश्लेषणात्मकता और आख्यानात्मकता, रचनाकार को युग के जटिल यथार्थ को पहचानने और प्रस्तुत करने का ज्यादा अवकाश देती थी । फलतः पूंजीवाद और लोकतंत्र द्वारा होने वाले सामाजिक परिवर्तनों की प्रक्रिया में उपन्यास कलाकार की वैयक्तिकता और स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बना ।

स्वच्छंदतावादी युग की प्रमुख विचारधारा यही थी कि 'व्यक्ति' अपनी इन्द्रियों द्वारा सत्य की खोज करता है । बाह्य जगत सच है और इन्द्रियां ही उसकी सच्ची तस्वीर प्रस्तुत कर ती हैं । उपन्यास की पहली कसौटी ही थी – व्यक्तिगत अनुभवों, खोजों का सत्य, जो मौलिक तो था ही, पारंपरा-विरोधी, आलोचनात्मक और अन्वेषक भी था । जिस 'व्यक्ति' का अनुभव था, वह पारंपरिक धारणाओं और विश्वासों के पूर्वाग्रहों से मुक्त था ।

यही वजह थी कि रचनाकार ने उपन्यास में जीवन की व्याख्या की, वास्तविकता से साक्षात्कार किया और युग-यथार्थ को इतना कटु और अप्रिय पाकर उसकी आलोचना की । इस तरह उपन्यास में स्वच्छंदतावाद का सक्रिय, आलोचनात्मक और क्रांतिकारी पक्ष कविता के मुकाबले ज्यादा उभर कर आया । इतना ही नहीं, अगर हम स्वच्छंदतावाद के आलोचनात्मक यथार्थवाद तक के सफर की पड़ताल करना चाहें, तो उपन्यास वह महत्वपूर्ण कड़ी है, जिसमें 'व्यक्ति' के विद्रोह का सामाजिक व्यवस्था की आलोचना में बदलना सबसे ज्यादा देखा जा सकता है ।

(क) रोमांस और नॉवेल : अद्भुत और वास्तविक

स्वच्छंदतावादी युग के उपन्यासों के मूल चरित्र को समझने के लिए उसके उन पूर्व कथा रूपों को समझना बेहद जरूरी है, जिनसे उनका पूरा

1- राल्फ फाक्स : 'उपन्यास और लोकजीवन', अनुवाद : नरोत्तम नागर, पृ० 39

कथा-रुचि प्रभावित होता है । यूरोपीय संदर्भ में वह रोमांस की परंपरा है, तो भारतीय संदर्भ में पौराणिक आख्यानों और किस्सों-दास्तानों की परंपरा । उपन्यास का स्वच्छंदतावादी रूप कथ्य और चेतना के स्तर पर इस परंपरा से बहुत अलग होने पर भी, कथा कहने के ढंग में उससे बहुत हद तक जुड़ा है ।

यद्यपि उपन्यास के लिए 'नावेल' (नया) शब्द का प्रयोग ही उसे रोमांस से अलग बताने के लिए किया गया था, लेकिन रोमांस की कल्पनाशीलता और रोचकता के लिए रचनाकार में काफी आकर्षण था । रोमांस की असाधारण घटनाएँ और नायक के चामत्कारिक कारनामे पाठक की दिलचस्पी बढ़ाते थे । उसकी कल्पनाशीलता पाठक को दूर-दूर ले जाती थी । यूरोपीय उपन्यासकारों ने रोमांस के इस आकर्षण का समावेश उपन्यास में किया ।

रोमांस अद्भुत और असंभव घटनाओं की बात कहता था, नावेल अपने युग की वास्तविक ज़िंदगी और तौर-तरीकों की तस्वीर था । रोमांस वह बताता था, जो न कभी हुआ और न कभी होगा । नावेल वह बताता था, जो हमारी वास्तविक ज़िंदगी में घटता है, हमारे साथ या हमारी परिचितों के साथ । रचनाकार ने एक तरफ दादी-नानी की कहानी की मौखिक परंपरा और रोमांस की अद्भुत और आश्चर्यजनक तत्वों की परंपरा का खुलकर प्रयोग किया, दूसरी तरफ उन असंभव घटनाओं को वह आम ज़िंदगी तक उतार लाया । पहले के राजकुमार की जगह अब कोई आम आदमी चाचा के मर जाने पर दौलत का हकदार होने लगा, दैवी प्रकोप की जगह अब भाग्य के कारण नायक-नायिका बिछुड़ने लगे ।

थामस हार्डी ने लिखा कि 'लेखक की मुख्य समस्या है —अद्भुत और सामान्य में ऐसा संतुलन स्थापित करना कि उसमें रोचकता भी हो, वास्तविकता भी । कहानी में अगर कोई असाधारण बात हो नहीं, तो उसे कहने की सार्थकता ही क्या ।'[1] इसीलिए असाधारण घटनाओं को इस ढंग से प्रस्तुत किया जाए कि

---

1. Miriam Allott (Ed.): 'Novelists on the Novel', p. 2
   Thomas Hardy : "A story must be exceptional enough to justify its telling".

थे संभव लगे । उपन्यास के इस आरंभिक दौर के उपन्यासकारों – हेनरी फील्डिंग, रिचर्ड कम्बरलैंड आदि – का भी यही मानना था, कि लेखक को कल्पना के मैदान में कितनी भी दूर जाने की छूट हो, बशर्ते पात्र असंभव और अस्वाभाविक न हों, उनके क्रियाकलाप मानवीय क्षमताओं के भीतर हों । उनका मानना था कि मज़ा तो तभी है, जब असाधारण घटनाएं साधारण लोगों के साथ घटें ।

इसी असाधारणता की मांग स्वच्छंदतावादी उपन्यासकार ने की । उसने कल्पना का खुलकर इस्तेमाल किया, लेकिन मानव-चरित्र की स्वाभाविकता और विश्वसनीयता को नज़रों से ओझल न होने दिया । असाधारणता उसकी घटनाओं में थी, चरित्रों में नहीं । इस असाधारणता को तर्कसंगत ठहराने के लिए उसने या समुद्र और दूरदराज के महाद्वीपों से संबंधित कथाएं कहीं (जैसे, राबिनसन क्रूसो और गुलीवर के यात्रा-वृत्तान्त), या अतीत की किसी घटना को आधार बनाया, जिससे वक्त और जगह की दूरी लेखक को अद्भुत और असंभव के लिए अवकाश दे सके । हेनरी जेम्स के शब्दों में कहें, तो 'उपन्यासकार जानता था कि उसके अनुभव के गुब्बारे की डोर धरती से बंधी है, भले ही वह कितनी भी लंबी क्यों न हो, लेकिन रोमांसकार की प्रकृति थी, उसके मज़े के लिए उस डोर को काट देना ।'[1]

अद्भुत और साधारण के बीच संतुलन बिठाने के अलावा स्वच्छंदतावादी कलाकार ने असाधारण को इतना महत्व देने के संबंध में तर्क दिए । रूसो ने 'ला नविल हेलोइस' की भूमिका में ही दो पात्रों के बीच वार्तालाप में उपन्यास पर पहले यह आरोप लगाया कि इस उपन्यास के पात्र किसी दूसरे ही लोक के प्राणी लगते हैं । इस आरोप का जवाब रूसो ने खुद ही दिया कि कौन यह जानने

---

1. Miriam Allot (Ed.) : 'Novelists on the Novel', p. 8
   Henry James : "The Novelist knows that the balloon of experience is tied to the earth and he keeps it that way, however, long his cable may be, but the art of necromancer is for the fun of it, insidiously to cut the cable."

का दावा कर सकता है कि एक आदमी दूसरे आदमी से कितना अलग होता है या समय और स्थान के हिसाब से विश्वास और पूर्वाग्रह किस सीमा तक बदल जाते हैं या प्रकृति की वह कौन सी सीमा है, जहाँ तक व्यक्ति जा सकता है और जहाँ तक नहीं।

फ्रांसीसी स्वच्छंदतावादी गुस्ताव फ्लाबियर ने अपने भीतर के दो व्यक्तित्वों की चर्चा की। एक वह जो लयात्मकता, कल्पना की उड़ान, शैली के सुरीलेपन और विचारों की उदात्तता से प्रभावित होता है, दूसरा वह जो ज़्यादा से ज़्यादा सच खोज निकालने के लिए गड्ढे खोजता है और एक-एक क्रियाकलाप को विस्तार से बताना चाहता है। उसने लिखा -'मानव जीवन एक उदास नाटक की तरह है - बदसूरत, बोझिल और जटिल। कला का एकमात्र उद्देश्य है-जिंदगी की तमाम अस्वीकृतियों को उड़ा देना।'[1] अस्वीकृतियों को उड़ा देना पलायन की ओर भी ले जाता है और सार्थक निषेध के बाद सक्रिय संघर्ष की ओर भी।

इस तरह हम कह सकते हैं कि स्वच्छंदतावादी उपन्यासकार की यथार्थ के प्रति यह दृष्टि, रोमांस की कल्पनाशीलता के प्रति यह मोह, उसके उपन्यास के चरित्र को निर्धारित करता है। वह रोमांस की असाधारण घटनाओं और चमत्कारपूर्ण संयोगों की तरफ आकृष्ट होता है, लेकिन उसकी कल्पनाशीलता रोमांस की निश्चित आदर्शों की दुनिया से अलग है। वह असंभव घटनाओं में मात्र हमारा दिलबहलाव नहीं करती, अद्भुत और अपरिचित को परिचित बनाकर, उसे वास्तविक ज़िंदगी का अंग बनाकर हमारे मस्तिष्क को गतिशील और विस्तृत बनाती है। उसमें समाज की आलोचना भी उतनी ही तीव्र है, जितना कि असाधारण

---

1. Miriam Allot (Ed.) : 'Novelists on the Novel', p. 10
Flaubert :"... human life is a sad show, undoubtedly ugly, heavy and complex. The only object of art, for men of feeling, is to make all disagreeables evaporate."

के प्रति मोह ।

(ख) भारतीय कथा-साहित्य की परंपरा और हिन्दी उपन्यासों का पहला दौर

हिंदी में भी उपन्यास अपने प्रथम चरण में प्राचीन और मध्यकालीन कथा-परंपराओं से प्रभावित है, भले ही वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की पंचतंत्र, जातक-कथा और बृहत्कथा की परंपरा हो, या फारसी किस्से कहानियों—लैला-मजनूं, शीरीं-फरहाद, गुलबकावली, तोता-मैना की रोमांस और तिलस्म की परंपरा ।

हालांकि इन पुरानी कथाओं और आधुनिक उपन्यासों में एक मौलिक अंतर है, जिसकी तरफ हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने भी संकेत किया है — "यह गलत धारणा है कि उपन्यास और कहानियां संस्कृत की कथा और आख्यायिकाओं की सीधी संतान हैं । ..... यंत्रयुग की विशेष देन वैयक्तिक स्वाधीनता उपन्यास का आदर्श है और काव्यकाल का पूर्वनिर्धारित और परंपरा-समर्थित सदाचार कथा-आख्यायिका का आदर्श है । उपन्यास में दुनिया जैसी है, वैसी चित्रित करने का प्रयास रहता है ।"[1]

लेकिन हिन्दी उपन्यासों के प्रारंभिक चरण में यह बात देखने को नहीं मिलती । उपन्यास के नाम पर कथाकार या तो शिक्षाप्रद नीतिकथा लिखता है, जैसे किशोरी लाल गोस्वामी का 'कुसुम कुमारी' , लज्जाराम मेहता का 'पतिव्रत लक्ष्मी' श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरु', जहां उसकी दृष्टि सदाचार, सनातन धर्म और समाज-सुधार पर ही ज्यादा टिकती है, या फिर वह पाठक के मनबहलाव के लिए चमत्कार-कथा गढ़ता है, जैसे देवकीनंदन खत्री की 'चंद्रकांता'

1- हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-7, पृ० 306, प्रथम संस्करण, 'साहित्य का साथी' में द्विवेदी जी का 'कथा आख्यायिका और उपन्यास' नामक निबंध ।

और चंद्रकांता 'संतति'। हालांकि राजेन्द्र यादव 'अठारह उपन्यास' में चंद्रकांता संतति के तिलस्म की नयी व्याख्या कर चुके हैं कि तत्कालीन यथार्थ को, सामाजिक और विचारधारात्मक अस्तव्यस्तता को, इसी तरह पकड़ा जा सकता था, लेकिन यह उनकी अपनी धारणा है, जिससे सब सहमत हों, जरूरी नहीं। इन उपन्यासों में समाज के बुनियादी सत्यों की पकड़ नहीं। उपन्यास से जुड़ी आधुनिकता और वैयक्तिक स्वाधीनता के स्थान पर उनमें मध्यकालीन चेतना, हिन्दू पुनरुत्थानवाद या तिलस्म-ऐयारी की दिलचस्पी ज़्यादा है। आधुनिकता अगर है, तो सिर्फ बिक्री के संकुचित आदर्श में।

प्रेमचंद पूर्व उपन्यासों में जीवन और साहित्य के बीच एक खाई रहती है। गद्य की दूसरी विधाओं में, (निबंध और नाटक), इस समय तक प्रगतिशील चेतना खूब मिलती है पर उपन्यास-कहानी में नहीं। प्रेमचंद ने अपने पूर्ववर्ती कथा-साहित्य की इस प्रकृति पर टिप्पणी भी की है —

"उसे जीवन से कोई मतलब नहीं था। हमारे साहित्यकार कल्पना की सृष्टि करके उसमें मनमाने तिलस्म बांधा करते थे। कहीं फसाना-ए-अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्तानि-ख्याल की और कहीं चंद्रकांता संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन। दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं।"[1]

हालांकि प्रेमकथाओं, चिड़े की कहानी और गुलोबुल की दास्तान में भी जीवन की सच्चाइयां और अनुभूतियां व्यक्त की जा सकती हैं, लेकिन प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यासों में इसी चीज़ की सबसे ज़्यादा कमी थी।

1- कुंवरपाल सिंह सव्यसाची (सं0) — 'प्रेमचंद और जनवादी साहित्य की परंपरा', पृ0 14, संस्करण, 1980। प्रेमचंद का प्रगतिशील लेखक संघ का अध्यक्षीय भाषण।

(ग) प्रेमचंद और उनके युग के स्वच्छंदतावादी उपन्यासकार

पहली बार प्रेमचंद ने ही साहित्य में जीवन की आकांक्षाओं - अपेक्षाओं पर गंभीरता से सोचा और जीवन को बदलने के समाधान दिए । हो सकता है ये समाधान आज विद्वानों को हलके और हवाई लगें, लेकिन उनमें लेखक ने तत्कालीन राजनीतिक चेतना और सक्रियता को पकड़ा है, महाजनी सभ्यता में सामंती जीवन-प्रणाली के अच्छे-बुरे मूल्यों का टूटना देखा है और सामाजिक रुचि को बदलने का रास्ता ढूँढ़ा है ।

प्रेमचंद के युग के स्वच्छंदतावादी उपन्यासकारों (चाहे वे निराला या प्रसाद हों या वृंदावन लाल वर्मा) के 'उपन्यासों का केंद्रीय विषय रूढ़ सामाजिक मर्यादाओं और परंपराबद्ध जीवन प्रतिमानों के अस्वीकार-संशोधन से संबंधित है ।'[1] उन्होंने रूढ़िगत सामंती मूल्यों, धर्म के बंधनों, साम्राज्यवाद और मानसिक पराधीनता से मुक्ति के लिए संघर्ष किया है । संघर्ष की दिशा की तलाश उन्होंने समाधान ढूँढ़कर की है । ये समाधान उस दौर की विचारधारा के तमाम अंतर्विरोधों के साक्ष्य हैं - चाहे वह आंशिक स्वराज्य या पूर्ण स्वराज्य की मांगों में आंदोलन का फिसलना हो या ज़मींदार-पूंजीपति और किसान-मजदूर के वर्ग संघर्षों का मानवीय सद्भावना और रागात्मकता द्वारा परिशमन का प्रयास ।

कुछ लोगों को इस बात पर आपत्ति होती है कि प्रेमचंद और उनके युग के स्वच्छंदतावादी उपन्यासकारों के उपन्यास-नायक संघर्ष को झेलते हैं, निराश और हताश होते हैं, लेकिन अंततः दुखद और त्रासदायी स्थितियों पर एक सुखद अंत ओढ़ लेते हैं या किन्हीं नैतिक मूल्यों में विश्वास के कारण संघर्षपूर्ण स्थितियों

1- नवलकिशोर - 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता', पृ0 35, संस्करण, 1977

को सामंजस्य की ओर मोड़ देते हैं । उनका मानना है कि यह बात वास्तविक स्थितियों को झुठलाती तो है ही, उसके वास्तविक अनुभव को अवरुद्ध करके उसे अमूर्त बना देती है ।

लेकिन हमारी विचार में उस दौर की वास्तविक स्थितियों (अर्थात् संघर्ष की दिशा और मुक्ति का रास्ता निर्धारित करने की अनिश्चितता, जीवन में आने वाले परिवर्तनों का मूल चरित्र न समझ पाने की अमूर्तता) को देखें, तो उपन्यासों में वास्तविक अनुभव का कथन ही है, उसका झुठलाना नहीं । प्रगतिशील लेखक संघ का प्रेमचंद का अध्यक्षीय भाषण शोषण और पीड़ा के समाज को बदलने में साहित्यकार के उत्तरदायित्व और अप्रिय अवस्थाओं का हल खोजने की आवश्यकता को ही दिखाता है, जब वह कहते हैं —

"अपनी कल्पना में वह (साहित्यकार) व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छंदता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती । इसलिए वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल-बुझा रहता है । वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अंत कर देना चाहता है, जिससे दुनिया में जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाए । यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाए रखता है । उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता, कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बंधन में पड़कर कष्ट भोगता रहे ? क्यों न ऐसे सामान एकत्र किए जाएं कि वह गुलामी और गरीबी से छुटकारा पा जाए ।"[1]

स्वच्छंदतावादी उपन्यासकार भी इस वेदना को महसूस करते हैं और इसीलिए उपन्यासों में समाधान भी देते हैं । प्रेमचंद के उपन्यासों के अंत में जमींदार के हृदय परिवर्तन या किसी आश्रम की स्थापना की तरह प्रसाद 'तितली' में जमींदार-किसान संघर्ष का अंत सबको काम करने लायक ज़मीन मिल जाने में

1- कुंवरपालसिंह सव्यसाची (सं0)—'प्रेमचंद और जनवादी साहित्य की परंपरा', पृ0, 17-18 । प्रेमचंद का प्रगतिशील लेखक संघ का अध्यक्षीय भाषण ।

करते है, तो निराला 'अलका' में जमींदार की हत्या दिखा कर । अक्सर इन उपन्यासों का अंत सुखद ही होता है । उपन्यासों में घटनाओं के सूत्र और संयोग भले ही किसी काल्पनिक लोक की सृष्टि करते हों, लेकिन राष्ट्रीय और सामाजिक मसलों पर लगाए गए प्रश्न-चिह्न, सामाजिक विषमता पर महसूस की गई वेदना और संघर्ष और मुक्ति का खोजा गया रास्ता तत्कालीन यथार्थ के ही विभिन्न आयामों को दिखाता है ।

(ध) स्वच्छंदतावादी उपन्यास : 'रोमांटिक' शिल्प के भीतर यथार्थ का आग्रह :

कहना न होगा, कि स्वच्छंदतावाद के दौर में ही उपन्यास में जीवन और साहित्य के बीच की खाई भरती है । उपन्यास आधुनिक चेतना का वाहक, जीवन और समाज का आलोचक और आधुनिक मनुष्य की वैयक्तिकता का माध्यम बनता है । एक स्तर पर उसमें व्यक्ति और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रति गहरा अनुराग है, दूसरे स्तर पर सामंती व्यवस्था का मज़ाक उड़ाते हुए उससे मुक्ति की तलाश । व्यक्ति यहाँ अकेला व्यक्ति नहीं है, सामूहिक संघर्ष का अभिन्न अंग है । ह्यूगो अपने उपन्यास 'शाही लिबास' (ले शातिमा) में लुई नेपोलियन के शासनतंत्र को तोड़ने के लिए व्यक्ति को मधु-मक्खियों की तरह एकजुट होने को कहते है । हिंदी में भी स्वच्छंदतावाद का सक्रिय पक्ष, जिसे रामविलास शर्मा ने 'स्वाधीनता आंदोलन का साहित्यिक वामपक्ष' कहा था, उपन्यासों में ज़्यादा उभर कर आता है, उसमें अगर मध्यवर्गीय व्यक्ति का जीवन संघर्ष है, तो किसान-मजदूर चेतना भी । नामवर सिंह ने भी इस ओर संकेत किया है —

"भारत में उपन्यास का उदय और विकास (जो सच्चा, सार्थक, सर्जनात्मक उपन्यास है) दरअसल हमारी मुक्ति-संग्राम की उपज है, जिसकी व्यापक भूमिका में किसान है । शायद ही हमारा कोई सार्थक उपन्यास हो, जो कहीं-कहीं उस जन-साधारण, किसान या गाँव में फैली हुई जनता के जनसंघर्षों को चित्रित न करता हो । और यह कहते हुए मेरे ध्यान में अकेले प्रेमचंद के उपन्यास

नहीं है । . . . विचित्र बात है कि प्रसाद जैसा आदमी, जो रोमांटिक कवि है, जब उपन्यास लिखने चलता है, तो 'कंकाल' और 'तितली' लिखते हुए उसको व्यापक ग्रामीण जीवन में जाना पड़ता है ।"[1]

प्रसाद ही नहीं, निराला के उपन्यासों में भी व्यक्ति के संघर्ष का संबंध समाज से, खासतौर पर ग्रामीण वर्ग से रहा है । पुश्किन के उपन्यास 'कप्तान की बेटी' का नायक ग्रिनेर, जो खुद ही कहानी कह भी रहा है, एक रूमानी प्रेमकथा के खोल में रूस में 1773 के पुगाचोव के नेतृत्व वाले किसान विद्रोह के उदय और दमन के ऐतिहासिक कारणों की तह में जाता है ।

यह 'व्यक्ति' शोषणतंत्र को तोड़ता है, लेकिन समूह से अलग होकर नहीं । पुराने समाज की जड़ता, रूढ़िबद्धता के विरुद्ध भी यह व्यक्ति का संघर्ष है, नए समाज के नए मूल्यों का निर्माण भी व्यक्ति करता है । इस तरह 'व्यक्ति' ही उपन्यास का केंद्र हो जाता है । प्रेमचंद तो उपन्यास को 'मानव चरित्र का चित्र' कहते ही हैं । अपने उपन्यास 'गबन' में वह रमानाथ के चरित्र के माध्यम से तत्कालीन मध्यवर्गीय युवक की रंगीन आकांक्षाओं, आर्थिक कमज़ोरियों और व्यक्तिगत असमर्थताओं का चित्र प्रस्तुत करते हैं । हिन्दी स्वच्छंदतावादियों के यहां भी इस 'व्यक्ति' का चरित्र मुख्य है, जिसके माध्यम से वे मानव-व्यक्तित्व के अन्तर्द्वंद्वों, जटिलताओं, गूढ़ रहस्यों और मानवीय संवेदनाओं की पहचान करते हैं । निराला के उपन्यास 'अप्सरा' में राजकुमार के चरित्र के माध्यम से उस मध्यवर्गीय युवक की आकांक्षाओं और असंगतियों की पहचान की गई है, जो एक तरफ क्रांति के सपने के प्रति आकृष्ट होता है, दूसरी तरफ प्रेम और वैभव से ।

इस 'व्यक्ति' को पहले की तरह अच्छे और बुरे की सीधी सपाट श्रेणियों में नहीं रखा जा सकता । वह जटिल मानव चरित्र है, कई तरह की

1- पूर्वाग्रह , अंक -46-47 , सितम्बर -दिसम्बर, 1981, भोपाल में नामवर सिंह का लेख ।

दुर्बलताओं से ग्रस्त, जिसमें निरंतर वांछित और अवांछित के बीच संघर्ष चलता रहता है, कभी एक पक्ष ज्यादा प्रबल होता है, कभी दूसरा । रूसी स्वच्छंदतावादी लेर्मेन्तोव के प्रसिद्ध उपन्यास 'हमारे समय का नायक' का नायक पिचोरिन ऐसा ही व्यक्ति है, जिस पर अक्सर अनैतिकता का आरोप लगाया जाता है। लेकिन स्वयं लेर्मेन्तोव का कहना है —" आदरणीय महोदयो, हमारे समय का नायक निस्संदेह एक तस्वीर है, लेकिन किसी एक व्यक्ति की नहीं, वह हमारी पूरी पीढ़ी के व्यसनों की तस्वीर है ।"[1]

स्पष्ट है, पहली बार स्वच्छंदतावाद के दौर में कथाकार पारंपरिक विषयवस्तु का निषेध करता है । वह पौराणिक आख्यानों या देवकथाओं से परंपरागत कथा-चरित्रों को नहीं लेता, उसकी कथा का विषय आधुनिक मानव है । पहली बार समाज व्यक्ति को इतना महत्व देता है कि कथाकार देवता या किसी मिथकीय चरित्र की बजाय व्यक्ति को उपन्यास का विषय चुनि लायक समझता है । जहाँ मिथकीय और ऐतिहासिक चरित्र लिए भी जाते हैं, उन्हें आधुनिक जीवन की समस्याओं से जूझते हुए दिखाया जाता है । कविता में अगर 'राम की शक्ति पूजा' के 'राम' और 'कामायनी' के 'मनु' ऐसे ही पात्र हैं तो उपन्यासों में निराला के 'प्रभावती' और वृंदावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों के ऐतिहासिक चरित्रों को आधुनिक मानव के संशयों और समाधानों में झूलते दिखाया गया है ।

चाहे जीवन और जगत की आलोचना हो, या साम्राज्यवादी-सामंतवादी शिकंजे से मुक्ति की आकांक्षा, स्वच्छंदतावादी उपन्यासों में व्यक्ति के नज़रिए से ही देखी गई है । इस आधुनिक व्यक्ति (जो अक्सर मध्यवर्गीय चरित्र है) के चरित्र और कर्म में इस तरह की विविधता है, कि वह दूसरे आम आदमी यानी मध्यवर्गीय पाठक की दिलचस्पी के योग्य हो सकता है ।

---

1. Lermontov : 'Selected Works', p.144

वैयक्तिकता के इस आग्रह के कारण कथा कहने का ढंग भी बदल जाता है । उपन्यास के सारे कथातंत्र को, तमाम घटनाओं को व्यक्ति के आसपास बुना जाता है । कथाकार अक्सर आत्मकथात्मक शैली अपनाता है, जिसे देखते हुए इन उपन्यासों को अक्सर 'आत्मकथा', 'आत्मप्रकाशन' या 'आत्मस्वीकृति' कह दिया जाता है । घटनाक्रम को तटस्थता से चित्रित करने के स्थान पर कलाकार जैसे अपने व्यक्तिगत अनुभवों को सुनाता है, भले ही वह आपबीती हो या काल्पनिक। अगर वह आत्मकथात्मक ढंग से नहीं भी लिख रहा है, तो भी घटनाक्रम में उसकी पूरी भागीदारी रहती है । अर्नोल्ड हाउसर ने कथाकार की इस प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए लिखा है —

"उपन्यास का यह आत्मकथात्मक रूप (भले ही वह मैं द्वारा कही गयी कहानी हो या पत्र या डायरी में कही गयी कहानी) अभिव्यक्ति को गहन करता है और वस्तु और कर्ता के बीच के फासले को कम कर देता है । इस मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्षता के कारण लेखक, पात्रों और पाठक के बीच के सभी संबंध बदल जाते हैं ; न सिर्फ लेखक का पाठक और पात्रों के प्रति दृष्टिकोण, बल्कि पाठक का भी पात्रों के प्रति दृष्टिकोण । लेखक एक तरफ पाठक को अपना गहरा दोस्त बना लेता है, तो दूसरी तरफ अपने कथा-चरित्रों के साथ भी अपनी पहचान बना लेता है । इस तरह कथा और वास्तविकता के बीच की विभाजक रेखा धुंधली पड़ जाती है । बाल्ज़ाक अपने पात्रों के बारे में इसी तरह लिखता है, मानो वे उसके गहरे परिचित रहे हों । रिचर्डसन अपनी नायिकाओं से प्रेम करने लगता है और उनकी किस्मत पर आंसू भी बहाता है । पाठक भी उन पात्रों से अपनी जिंदगी की तमाम समस्याओं, आकांक्षाओं-निराशाओं को जोड़ने लगता है ।"[1]

स्वच्छंदतावादी दौर में उपन्यासकार पहली बार घटनाओं और अनुभवों के देशकाल को भी महत्व देता है । पहले की कथा 'किसी ज़माने की बात

---

1. Arnold Hauser : 'The Social History of Art', Vol. 3, p. 69

है, किसी देश में कोई राजा राज करता था' से शुरू होती थी । अब कथाकार घटनाओं का पूरा ब्योरा देता है कि वे कब घटी, कहाँ घटी और क्यों घटी । मौसम से लेकर प्रकृति तक का बारीक विवरण वह लिखता है । घटनाओं की मूल वजह यानी पूरी पृष्ठभूमि वह तलाशता है । जैसे, निराला 'अलका' उपन्यास में दूसरे महासमर के बाद महामारी के समय में अपनी कथा को रखते हैं । पूरे परिवेश का चित्र खींचने के पीछे कथाकार का उद्देश्य व्यक्ति के अनुभवों को प्रामाणिक रूप देना तो है ही, यह उसकी यथार्थ दृष्टि का भी परिचायक है ।

कथाकार का यथार्थ का यह आग्रह काफी जटिल प्रश्न है । पहले कहा जा चुका है कि स्वच्छंदतावाद में यथार्थ के एक खास किस्म का आग्रह है । प्रायः यथार्थवाद की बात करते हुए कहा जाता है कि उपन्यासकार अपनी रचना में यथार्थ का प्रतिबिंबन या अभिव्यक्ति करता है । ज्यां पाल सार्त्र ने इसके समानान्तर यथार्थ के सृजन और यथार्थ की खोज की बात की है । मूलतः इन दोनों दृष्टियों में कोई अंतर नहीं है, चूंकि कथाकार सृजन और अभिव्यक्ति के ज़रिए भी खोज कर सकता है, लेकिन विद्वान यथार्थवाद का अर्थ सिर्फ अभिव्यक्ति से लेते हैं, खोज से नहीं । सार्त्र लिखते हैं — " तुम हमें आदर्शवादी कह सकते हो, क्योंकि हम उस यथार्थ या वास्तविकता को खोज रहे हैं, जो कि प्रस्तुत नहीं है ।.... ये लोग यह मानते हैं कि लेखक को यथार्थ का प्रतिबिंबन करना चाहिए, मानो विश्व पहले ही से निर्मित हो और लेखक का काम उसका सिर्फ वर्णन करना हो । लेकिन मेरे लिए लेखक का काम भविष्य का सृजन भी है ।"[1] सार्त्र के अनुसार लेखक को भविष्य की रोशनी में वर्तमान की व्याख्या करनी होती है — इस अर्थ में कि भविष्य किसी भी परिभाषा से अनजान और अनिश्चित है । वह इस पर

---

1. Haynard Solomon : 'Marxism and Art', p. 255

   Sartre : 'The Novel and Reality': "You may call us idealists, because we are looking for a truth or reality, which is not initially given; but we have a right to answer that you too (Socialist realists) are creating works of fiction . Every writers lies in order to tell the truth."

निर्भर है कि विद्यमान जगत में कौन लोग उसका कैसा निर्माण करेंगे । इसलिए साहित्य को हमेशा आलोचनात्मक होना चाहिए । कथाकार को रचना के ज़रिए बराबर यथार्थ की खोज और उसका आलोचनात्मक प्रतिबिंबन करना चाहिए ।

स्वच्छंदतावादी कथाकार उपन्यास में यथार्थ की यही खोज करता है । इस खोज में उसका अस्त्र बनती है कल्पना । कल्पना द्वारा वह उस यथार्थ का 'माडल' बनाता है, जैसा यथार्थ वह जीवन में चाहता है । इस तरह किसी कृति का कोई भी विचारधारात्मक या सैद्धांतिक आधार हो सकता है, लेकिन उसका वास्तविक कथ्य उसके द्वारा खोजे गए यथार्थ में है । बाल्ज़ाक, ह्यूगो, स्तेंदाल, प्रसाद और निराला में यथार्थ की तटस्थ अभिव्यक्ति और निरीक्षण नहीं है, उनमें यथार्थ का वह अभिगबहुल रूप है, जो कथाकार के लिए सिर्फ 'वस्तु' की हैसियत नहीं रखता, उसके लिए पूरी पहचान और भागीदारी रखता है । यह यथार्थ कथाकार खोजता है । वह कल्पना की उड़ान के माध्यम से, आध्यात्मिक आकांक्षाओं के माध्यम से दृष्टिगोचर जगत के दृष्टिगोचर सत्य के पीछे छिपे अव्यक्त यथार्थ को भी खोजता है । प्रसाद की 'तितली' में जमींदार-महाजनी का शोषण और इनसे लड़ने वाले जागरूक किसानों का चित्रण, ग्राम निर्माण और सहयोगी खेती का आदर्श अगर विद्वानों को 'वास्तविक समाज का प्रतिबिंब नहीं जान पड़ते' या 'कवित्व के अतिशय से विश्वसनीय नहीं हो पाते'[1], तो उसकी यही वजह है कि स्वच्छंदतावादी कलाकार ने व्यक्ति को महत्व देने के कारण अपने ढंग से यथार्थ की खोज की है । उसने व्यवस्था में बदलाव की आकांक्षा की है, लेकिन बदलाव का तरीका क्या हो, इस पर हर कलाकार की अपनी अलग राय और विचारधारा है ।

इतिहास का यथार्थ भी उसके लिए कल्पना और आवेग से जुड़ा है । वृंदावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों और निराला के 'प्रभावती' में ऐतिहासिक तथ्यों पर लेखक का ध्यान कम रहता है, तत्कालीन समाज और मूल्यों पर इतिहास के माध्यम से टिप्पणी करना और प्राचीन परंपराओं के परिप्रेक्ष्य में

1- भारत भूषण अग्रवाल -'हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव,'पृ० 95

वर्तमान को भविष्य का रास्ता दिखाना उसका लक्ष्य ज्यादा रहता है। वृंदावन-लाल वर्मा ने लिखा भी है, कि अतीत की गौरवगाथाएं लिखने का उनका उद्देश्य मनोरंजन या पाठक को पलायनवादी बनाना नहीं, बल्कि पुरातत्व की ग्राह्य और अग्राह्य- दोनों चीज़ों को दिखाना है, 'जिससे वे वर्तमान में लौटकर पुरातत्व के सड़ियलपन को वहीं छोड़ आएं और सशक्त को अपने साथ रखकर वर्तमान की समस्याओं से भिड़ने में अपने आपको समर्थ पाएं।'[1] मध्यकाल में जिस प्रादेशिकता, रूढ़िग्रस्तता और आपसी फूट ने समाज को तोड़ा था, उपन्यासकार तत्कालीन समाज में भी उसकी प्रासंगिकता देखता है और ऐतिहासिक उपन्यास द्वारा पाठक को समाधान की तलाश में वहीं ले जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वच्छंदतावादी कलाकार का बाह्यजगत का यथार्थ संवेदनशीलता और भावुकता तक पहुँचने वाली रागात्मकता के कारण कल्पना-शील हो जाता है। कथाकार बाह्यजगत की वास्तविकता को इस हद तक महसूस करता है कि उसका विश्लेषण आर्थिक-सामाजिक आधार पर न होकर व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित होकर रह जाता है। अपनी आत्मपरक और भावुक जीवन दृष्टि के कारण वह यथार्थ को बिंबों, रूपकों, प्रतीकों और मिथकों में समझाता है। 'कामायनी' को ऐसी ही पेटिसी मानते हुए मुक्तिबोध ने लिखा भी है-

"यथार्थवादी शिल्प के अंतर्गत, कलाकृति यथार्थ के अन्तर्नियमों के अनुसार यथार्थ के बिंबों की क्रमिक रचना प्रस्तुत करती है। किंतु भाववादी रोमेंटिक शिल्प के अन्तर्गत, कल्पना अधिक स्वतंत्र होकर जीवन की स्वानुभूत विशेषताओं को समष्टि-चित्रों द्वारा, प्रतीक-चित्रों द्वारा प्रस्तुत करती है। ... यह बहुत ही संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत जो भाववादी शिल्प है - उस शिल्प के अंतर्गत, जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी रही हो।"[2]

1- शशिभूषण सिंहल -'उपन्यासकार वृंदावनलाल वर्मा, पृ० 31 पर उद्धृत वृंदावनलाल वर्मा का कथन।

2- मुक्तिबोध रचनावली, भागचार, पृ० 217-219, कामायनी एक पुनर्विचार।

स्वच्छंदतावादी उपन्यासों में अक्सर जहां कथ्य के स्तर पर आलोचनात्मक यथार्थवाद तक पहुंचा जा सकता है, भाषा और अप्रस्तुत विधान के स्तर पर उनमें एक गहरा अंतर्विरोध देखा जा सकता है । गद्य के जीवन संग्राम की भाषा होने के बावजूद उपन्यास की भाषा गद्यात्मक कम होती है, पद्यात्मक ज्यादा । स्वच्छंदतावादी कविता के साथ जुड़ी एक खास तरह की कोमल, भावुक संवेदनाओं की कोमल मधुर और लाक्षणिक अर्थवैचित्र्य वाली अभिव्यक्ति उपन्यास में भी मौजूद रहती है । दरअसल, हर दौर में कोई न कोई विधा प्रमुखता प्राप्त करती है । अक्सर, वह युग की दूसरी विधाओं के स्वरूप को भी कमोबेश प्रभावित करती है । स्वच्छंदतावाद के साथ प्रगीत की विधा जुड़ गई थी, इसलिए उस युग के उपन्यासों को भी प्रगीतात्मकता प्रभावित करती है, खासतौर पर उन कलाकारों को, जो कवि भी थे, कथाकार भी । यह बात भी महत्वपूर्ण है कि इस प्रवृत्ति से मुक्त होने का प्रयास भी कथाकार में रहा है ।

स्वच्छंदतावाद और यथार्थवाद के संबंध में विद्वानों की प्रचलित धारणा यह है कि जहां यूरोप में स्वच्छंदतावाद के बाद यथार्थवाद आता है (स्वाभाविक परिणति के रूप में या प्रतिक्रिया के रूप में), वहां हिंदी में ये दोनों 'वाद' साथ-साथ देखे जा सकते हैं । इस विवाद में न भी जाएं, तो उपन्यास वह साहित्य रूप है, जिसमें स्वच्छंदतावाद और यथार्थवाद के परस्पर संबंध की बेहतर छानबीन की जा सकती है ।

—

(2) निराला के उपन्यास : जीवन संग्राम की अभिव्यक्ति

स्वच्छंदतावाद को प्रायः कविता के साथ जोड़कर देखने की प्रवृत्ति ने इस प्रचलित धारणा को जन्म दिया कि स्वच्छंदतावादी कलाकार अक्सर कविता में ही सोचते हैं। इस धारणा के कारण उनके गद्य-लेखन को (आलोचना, उपन्यास, कहानी इत्यादि को), कवि के इतर रचना के तौर पर देखा गया और उसे कविता को समझने और व्याख्यायित करने का अचूक अस्त्र भर मान लिया गया। इसमें शक नहीं कि किसी भी कवि के विश्वासों-मान्यताओं को समझने में कवि के गद्य से बढ़कर कोई चीज नहीं होती, लेकिन उसे सिर्फ कविता समझने की कुंजी मान लेना कलाकार के व्यक्तित्व को तो खंडित करना है ही, साहित्य को भी उसकी संपूर्णता में न समझने की भूल करना है।

वैसे भी, स्वच्छंदतावादी कलाकार का गद्य लेखन उसके उस जीवन संग्राम की अभिव्यक्ति है, जो कविता में अधूरा छूट जाता है। ऐसा नहीं कि कविता में उन्होंने वह संघर्ष नहीं किया या विचारों को नहीं ढूंढा, लेकिन कविता की अमूर्तता में जीवन-यथार्थ की मूर्तता अक्सर खो-सी गई। 'जीवन संग्राम की भाषा' गद्य ही हो सकी।

निराला के उपन्यासों में स्वच्छंदतावाद की मूल प्रकृति को उनके जीवन संग्राम के संदर्भ में ही देखा जा सकता है, इसलिए भी, कि उपन्यास आधुनिक जीवन की वैयक्तिक चेतना का वाहक था और इसलिए भी, कि निराला के युग के अंतर्विरोध उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के अंतर्विरोध हैं। इसलिए निराला के उपन्यासों को उनके जीवन संग्राम के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है।

निराला के जीवन-संग्राम के कई स्तर हैं - एक तरफ सामंती व्यवस्था, उसकी विचारधारा और साहित्यिक अभिरुचि से टकराव, दूसरी तरफ ब्रिटिश साम्राज्यवाद और शोषण को वैध ठहराने वाली उसकी सांस्कृतिक नीतियों का विरोध। कभी पूंजीवादी स्वार्थ-समर में अपनी अस्मिता बचाए रखने का संघर्ष, तो कभी

प्रकृति की मृत्यु के नियम से साक्षात्कार । निराला को अपने वास्तविक जीवन में इस संघर्ष में जूझना पड़ा है — साहित्यिक गुटबंदियों के विवेकशून्य विरोध को झेलने से लेकर अपनी रचनात्मक क्षमताओं-संभावनाओं और अर्थाभाव में अस्तित्व को जीवित रखने तक । पत्नी का कम उम्र में साथ छोड़ जाना, बेटी सरोज की अल्पायु में मृत्यु, अर्थाभाव में ज़रा-ज़रा-से पैसे के लिए ढेरों पृष्ठ के अनुवाद, आलोचकों द्वारा अपनी प्रतिभा न पहचान पाने का दुख, बाजारी रुचि से समझौता न करने पर चरम गरीबी और भूख से परिचय — निराला के जीवन संघर्ष को ये सब बातें निर्धारित करती हैं ।

यह निराला का कोई एकदम निजी जीवन संग्राम नहीं, बल्कि वह संघर्ष है, जिससे उनके दौर का हर संवेदनशील व्यक्ति गुजर रहा था । इसीलिए 'संकटों और अभावों से ग्रस्त अपने निजी जीवन में ही नहीं, चारों ओर ही व्यथा और दुःख निराला को दिखाई देते हैं । उनका व्यक्तिगत दुःख उनके अभागे देशवासियों के दुःख का अभिन्न अंग हो जाता है ।'[1] यह उत्पीड़न पूरी व्यवस्था का है, जिस पर वह दुःखी होते हैं —

" यहाँ कभी मत आना
उत्पीड़न का राज्य, दुःख ही दुःख
यहाँ है सदा उठाना
क्रूर यहाँ पर कहलाता है शूर
और हृदय का शूर सदा ही दुर्बल क्रूर
स्वार्थ सदा रहता परार्थ से दूर
यहाँ परार्थ वही, जो रहे
स्वार्थ ही से भरपूर ।"

1- ये पे. चेलिशेव —'सूर्यकांत त्रिपाठी निराला', पृ0 51, प्रथम संस्करण

ऐसे स्वार्थ-समर में अपनी अस्मिता बचाए रखना वस्तुतः कठिन है । 'पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कलाकार की रचनात्मक स्वतंत्रता बँध जाती है । बँधती नहीं तो कम जरूर हो जाती है ।'[1] कलाकार खुद को ऐसी अंतर्विरोधी स्थिति में पाता है, जहां उसके सामने कुछ ही विकल्प बचते हैं । एक, वह बाज़ार की मांग के अनुरूप लिखे और बाज़ारू रुचि के आगे अपनी रचनात्मक प्रतिभा को गिरवी रख दे, जहां उसकी रचनात्मक संभावनाएं धीरे-धीरे कम होती जाती हैं । दो, वह अपनी रचनाशीलता को दो अलग खंडों में बाँट दे, यानी एक तरफ अभिव्यक्ति की अपनी आंतरिक आवश्यकता के लिए लिखे, दूसरी तरफ बाज़ारी रुचि के अनुकूल लिखे । इससे सिर्फ रचनाशीलता ही नहीं, उसका व्यक्तित्व भी दोहरा हो जाता है । अगर वह इस द्वन्द्व से बचने के लिए सृजन ही छोड़ दे, तो उसकी चुप्पी उसके लिए दोहरी आत्महत्या की तरह होती है — कलात्मक और मानवीय, क्योंकि सृजन में ही उसका अस्तित्व भी होता है ।

ऐसी स्थिति में अगर कलाकार कुछ कर सकता है, तो यही कि इन सब विकल्पों को ताक पर रख दे और बाज़ारी मूल्यों का पूरी तरह निषेध का सृजन करे — अपने लिए या उस पाठक के लिए, जिस तक पहुंचने के लिए उसे फिर संघर्ष करना पड़ता है । तब उसकी रचनात्मक स्वतंत्रता में तो कोई अड़चन नहीं आती, लेकिन कला के बाज़ार को पीठ दिखाने की उसे बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है — भूख, गरीबी, बीमारी, आत्महत्या, मृत्यु या पागलपन के रूप में । प्रेमचंद और प्रसाद दोनों इन्हीं स्थितियों से गुजरते हैं, लेकिन निराला बाज़ारू रुचियों से समझौता न करने की सबसे ज्यादा कीमत चुकाते हैं ।

---

1. Adolfo Sanchez Vazquez: 'Art and Society', Page 209; "Art finds itself subject to the laws of capitalist material production, whereby creative freedom is reduced or even annuled."

लेकिन जहाँ तक निराला के उपन्यास-लेखन का सवाल है, कुछ विद्वानों ने इस धारणा को सामने रखा है कि उनमें कहीं-न-कहीं बाज़ार का ध्यान रखा गया है। नंदकिशोर नवल ने निराला रचनावली की भूमिका में उनके पहले चार उपन्यासों को दृष्टि में रखकर लिखा है कि 'उपन्यास लेखन में निराला व्यावसायिक दबाव महसूस करते थे और जानबूझकर अपने उपन्यासों को घटना-प्रधान बनाते थे।'[1]

विक्रय-आकर्षण का यह दबाव छायावाद के पहले भी हिंदी प्रकाशन जगत को ग्रस चुका था और साहित्यकारों को समझौता करने पर मजबूर कर रहा था। संभवतः इसका सबसे चर्चित उदाहरण महावीरप्रसाद द्विवेदी की वह रचना है, जो उन्होंने बाज़ार के लिए लिखी, लेकिन उनकी पत्नी के विवेक के कारण छप न सकी।

निराला को भी निस्संदेह इस व्यावसायिक दबाव को महसूस करना पड़ा, क्योंकि कला का 'अर्थ' वाला पक्ष उनके यहाँ कुछ ज़्यादा ही संकुचित रहता था और उन्हें नितांत कम दामों पर अनुवाद करने को मजबूर होना पड़ता था। प्रकाशक उपन्यास छापने को फायदे का सौदा समझते थे, कविता संग्रह निकालने में आना-कानी करते थे। लेकिन निराला के उपन्यासों को बाज़ारी रुचि की अनुकूलता में लिखा मान लेना उनके साथ अन्याय करना होगा। अगर उन्हें बाज़ार से समझौता ही करना होता, तो 'सरोजस्मृति' में उनकी पीड़ा यूं नहीं बाहर आती और गद्य-पद्य में समानधर्मा होने का कलाकार का अहं भी न होता।

" लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर...
है नहीं हार मेरी, भास्वर
यह रत्नहार - लोकोत्तर वर।

1- नन्दकिशोर नवल (सम्पादक) —'निराला रचनावली', भाग-4 की भूमिका, पृ० 10

अन्यथा, जहाँ है भाव शुद्ध
साहित्य कला-कौशल प्रबुद्ध,
है दिए हुए मेरे प्रमाण
कुछ नहीं, प्राप्ति को समाधान
पार्श्व में अन्य रख कुशलस्त,
गद्य में पद्य में समाभ्यस्त । "

दूसरी तरफ उपन्यासों के आरंभ के वक्तव्य देखे जाएं, तो निराला की व्यावसायिकता और उपयोगितावाद से इस कदर चिढ़ दिखाई देती है कि वह उपदेश या समाजसुधार तक के लिए उपन्यास का 'उपयोग' कहीं सहन नहीं कर पाते । मिस, वह अर्थ के लिए उपन्यास का उपयोग भला कैसे कर सकते हैं । 'अप्सरा' के वक्तव्य में वह स्पष्ट भी करते हैं कि अपने से पहले के उपन्यासों में उन्हें 'साहित्य तथा समाज के गले पर मुक्ताओं की मालाओं की तरह इने-गिने उपन्यास ही लगे हैं ।'[1] कहना न होगा कि प्रेमचंद के ऐसे उपन्यासों की परंपरा में ही वह खुद को भी रखते हैं ।

लेकिन किसी भी उद्देश्य के बंधन में न बंधने की धारणा उन्हें यह कहने पर मजबूर करती है — "मैंने किसी विचार से 'अप्सरा' नहीं लिखा, किसी उद्देश्य की पुष्टि भी इसमें नहीं . . . . कथा न रहने पर भी प्रासंगिक काव्य, दर्शन, समाज, राजनीति आदि की कुछ बातें चरित्रों के साथ व्यावहारिक जीवन की समस्या की तरह आ पड़ी हैं, वे 'अप्सरा' की रुचि के अनुकूल हैं । उनसे पाठकों को शिक्षा के तौर पर कुछ मिलता हो, अच्छी बात है, न मिलता हो रहने दें . . . "[2]

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 16 'अप्सरा' का वक्तव्य ।
2- वही, पृ० 16

कहना न होगा, कि निराला के लिए जीवन और साहित्य इतने जुड़े हैं कि उपन्यास को उद्देश्यप्रधान बनाने की कतई जरूरत वह नहीं समझते। उसमें जीवन खुद-ब-खुद आता है। 'अप्सरा की रुचि के अनुकूल'- कहने के कई अर्थ हो सकते हैं - छायावादी विचारधारा के अनुकूल या लेखक की वैयक्तिक रुचि के अनुकूल या चूंकि प्रेमकथा लिखी जा रही है, इसलिए प्रेम के भावुक आदर्शों के अनुकूल।

प्रारंभिक उपन्यासों में प्रेमकथा के ढांचे में जीवनयथार्थ की खोज और अभिव्यक्ति को निराला की इसी धारणा के अनुकूल देखना चाहिए। ये उपन्यास इसलिए तो लिखे ही गए हैं कि छपें भी, लेकिन ये अपने ऊपर किए गए कुछ आक्रमणों के जवाब में भी लिखे गए हैं। निराला का आग्रह एक साहित्यिक रचना देने का है -- साहित्यिक मूल्यों के साथ और जीवनमूल्यों के साथ।

निराला स्वभाव से ही स्वच्छंद रहे हैं, भले ही वह बचपन में स्कूल के दमघोंटू माहौल से बाहर भागने की स्वच्छंदता हो या कदम-कदम पर बांधने वाले आर्थिक बंधनों को तोड़ने का दुस्साहस। इसीलिए वह अपने लेखन में भी अपने समय की रचनाशीलता की एक लीक पर ही नहीं चलते, उसे तोड़ते भी हैं। जाने-माने साहित्याचार्यों को उनकी चुनौती प्रचलित परंपराओं पर न चलने की स्वच्छंदता का ही अंग है। निराला यह मानकर चलते हैं -- "जब एक ही रूढ़ि को, एक ही आदत को, अज्ञात भाव से हम मानते जाएंगे, तब उस आदत की तरह हम भी जड़ बन जाएंगे।"[1] इसीलिए कविता में जड़ जमाए हुए सौन्दर्यबोध और नैतिकता को वह नए सौन्दर्य-बोध और मूल्यों से तोड़ते हैं। यही नहीं, जब ये ही सौन्दर्य-बोधी मूल्य जड़ होने लगते हैं, वह उन्हें तोड़कर नयी संभावनाएं तलाश करते हैं। उपन्यासों में भी यही प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

1- निराला रचनावली, भाग-6, पृ0 305 - सुधा मासिक, जून, 1930 में निराला की संपादकीय टिप्पणी।

लकीर का फकीर न होने की इसी स्वच्छंद वृत्ति के कारण निराला साहित्यिक दलबंदियों में चारों तरफ से घिर जाते हैं। जब लोग किसी व्यक्ति को समझ नहीं पाते, उसे किसी लीक में 'फिट' नहीं कर पाते, तो वे या तो उसकी प्रशंसा करते नहीं अघाते और 'मूल्य आंकते-आंकते अमूल्यता तक पहुंच जाते हैं'[1], या फिर उसकी अस्वस्थ आलोचना पर उतर आते हैं और उसे पागल करार देते हैं। निराला के साथ भी यही होता है, वह बार-बार मुक्ति के उत्साह और पराजय की निराशा के घेरों से निकलते हैं, जीवन संग्राम चलता रहता है। उपन्यासों में इसी जीवन-संग्राम की अलग-अलग ढंग से अभिव्यक्ति है।

जिस तरह निराला की काव्य-यात्रा को तीन चरणों — छायावादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी के खानों में बांट कर देखा जाता है, उसी तरह उनके उपन्यासों को भी दो चरणों में बांटा जाता है। रचनाशीलता का पहला दौर है — 'अप्सरा', 'अलका', 'प्रभावती' और 'निरुपमा' उपन्यासों का। दूसरे दौर में 'कुल्ली भाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'चोटी की पकड़' और 'काले कारनामे' को रखा जाता है। उनके दो उपन्यास — 'चमेली' और 'इन्दुलेखा' अधूरे छूट गए हैं। इन दो चरणों की विभाजक रेखा के रूप में प्रगतिशील लेखक संघ (1936) को रखा जाता है, क्योंकि 1936 से पहले हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्ति स्वच्छंदतावाद की रहती है, उसके बाद प्रगतिशीलता की। स्वच्छंदतावाद के दौर में लिखे गए पहले चार उपन्यासों में स्वच्छंदतावादी आग्रह ज्यादा है, परवर्ती उपन्यासों में यथार्थवाद का। अतः अध्ययन का आधार प्रारंभिक दौर के चार उपन्यासों — 'अप्सरा', 'अलका', 'प्रभावती' और 'निरुपमा' को ही बनाया गया है।

इन प्रारंभिक उपन्यासों के बारे में आम धारणा यही है कि ये भाववादी शिल्प में लिखे गए भावनाप्रधान उपन्यास हैं; निराला की यथार्थवादी प्रवृत्ति जैसे

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 350 - 'निरुपमा' उपन्यास का निवेदन।

ही ग्रामीण जनता के सुख-दुःख को चित्रित करने की होती है, वैसे ही भाववादी प्रवृत्ति उस पर हावी हो जाती है और बार-बार निराला के भीतर का कवि काल्पनिक इच्छापूर्ति के सपने रचने की ओर प्रवृत्त हो जाता है। दूसरी तरफ उनके परवर्ती उपन्यासों को जीवन-दृष्टि और शिल्प के स्तर पर 'शुद्धं' यथार्थवादी ठहरा दिया जाता है।

बेहतर होगा, कि उनके उपन्यासों के इन दो चरणों के अंतर को उपेक्षित न करते हुए भी उनमें सीधा-सपाट विभाजन न किया जाए। कारण यह है कि प्रारंभिक दौर के स्वच्छंदतावादी उपन्यास ही आगे के यथार्थवाद की कड़ी हैं और उनमें सिर्फ काल्पनिक इच्छापूर्ति के सपने ही नहीं रचे गए हैं, वास्तविक जीवन संघर्ष को चित्रित भी किया गया है। कल्पना और यथार्थ का अंतर्विरोध इन उपन्यासों में बराबर रहता है। अतः 'छायालोक' या कल्पनाप्रसूत चमत्कारों के आधार पर उन्हें खारिज नहीं किया जा सकता। उनकी कल्पनाशीलता के भीतर यथार्थ का जो आग्रह है, उसे पहचानना जरूरी है।

इस संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए जा सकते हैं, उदाहरण के लिए क्या ये उपन्यास तत्कालीन भारतीय परिवेश के जटिल जीवन यथार्थ को पकड़ पाते हैं या कवि की कल्पना के कारण छायालोक बनकर रह जाते हैं? क्या निराला इन उपन्यासों में स्वाधीनता आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में युग जीवन की वास्तविक समस्याओं के काल्पनिक समाधान और छायावादी रूमानियत से प्रेरित आदर्श खोजते हैं या उनमें वे जीवन की निष्क्रियता छोड़कर अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध की बात भी करते हैं?

प्रारंभिक उपन्यासों को एक नजर देखें, तो सभी में एक रोचक प्रेमकथा गढ़ी गई है, कभी वह उपन्यास की मुख्यधारा है, तो कभी उसके ठीक समानान्तर राजनीति और जीवन-संघर्ष के मसलों की बहस चलने लगती है। हो सकता है, आलोचकों को ये दो धाराएं अलग-थलग लगें, लेकिन निराला के लिए दोनों व्यावहारिक जीवन का अंग हैं। उन्हें रूमानी प्रेमकथा से भी गहरा लगाव है, वह जीवन-संघर्ष का एक रूप है।

(क) 'अप्सरा' : आकांक्षा और अप्राप्ति का अपराजित समर

'अप्सरा' उपन्यास में राजकुमार और कनक की प्रेमकथा उस जीवन संग्राम को अभिव्यक्त करती है, जिसमें व्यक्ति अपने ही द्वारा चुने गए जीवन-पथ पर प्रश्न-चिह्न लगाता है और 'आकांक्षा और अप्राप्ति के अपराजित समर' में मुक्ति का रास्ता ढूंढता है। राजकुमार के लिए यह प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व है, तो कनक के लिए ऐश्वर्य और प्रेम का द्वन्द्व।

राजकुमार 'जाति, देश, साहित्य और आत्मा के कल्याण के लिए अपने समस्त सुखों का बलिदान देने की प्रतिज्ञा'[1] कर चुका है, लेकिन स्वयं निश्चित जीवन की यह गति कनक के रूप-सौंदर्य और ऐश्वर्य, विभूति और प्रेम के सुख से हिल जाती है। 'कनक की कल्पना-मूर्ति उसकी तमाम प्रगतियों को रोककर खड़ी हो जाती है और प्रत्येक समर में राजकुमार की वास्तविक शक्ति उस छाया शक्ति से परास्त हो जाती है।'[2] उसे सबसे ज्यादा ग्लानि इसी बात की है कि उसका क्रांतिकारी मित्र चंदन, जिसके साथ उसने भी देश की सेवा में आत्मार्पण किया था, किसानों का संगठन करते हुए लखनऊ षड्यंत्र में गिरफ्तार हो गया, लेकिन वह खुद कनक के प्रेम में प्रवृत्त होकर अपना पथ भूल गया। वह अपनी स्थिति पर तो क्षुब्ध होता ही है, कनक को भी इसके लिए दोष देता है।

वस्तुतः राजकुमार उस मध्यवर्गीय युवक के अंतर्विरोधों का प्रतिबिंब है, जो क्रांति को एक सपने की तरह देखता है, उसके वास्तविक जीवन संघर्ष से अलग एक सपना। प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच का, प्रेम और कर्तव्य के बीच का यह द्वन्द्व मध्यवर्गीय द्वन्द्व है, जिसमें प्रेम जीवन-पथ का हिस्सा नहीं, संघर्ष और कर्तव्य से पलायन हो जाता है। एक मजदूर या किसान का प्रेम

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 69- 'अप्सरा' उपन्यास

2- वही, पृ० 69

उसके संघर्ष से अलग या उसमें बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि संघर्ष भी उसका उतना ही जीवन का अंग है, जितना कि प्रेम ।

राजकुमार के समानांतर निराला क्रांतिकारी चंदन को रखते हैं । हालांकि यहां भी निराला के लिए क्रांतिकारिता एक तरह का 'एडवेंचर' लगती है, लेकिन प्रेम और कर्तव्य के संघर्ष का वास्तविक अर्थ चंदन ही राजकुमार के सामने रखता है --

"प्रतिज्ञा तुम्हें याद होगी ।" राजकुमार ने शांत स्वर से कहा ।

'यह मानवीय थी, यह संबंध दैवी है । इसमें शक्ति ज्यादा है ।" चंदन ने तर्क रखा ।

"जीवन का अर्थ समर है ।"

"पर जब तक वह कायदे से, सतर्क, सरस और अविराम जीता रहे । विक्षिप्त का जीवन जीवन नहीं, और न उसका समर समर ।"[1]

इस समर में निराला राजकुमार और चन्दन को अलग-अलग जमीन पर रखते हैं। राजकुमार का द्वन्द्व मनोराज्य का द्वन्द्व है, जिसमें भीतरी उधेड़-बुन है, चंदन का बाहरी दुनिया का, जिसमें बाहर की छानबीन है --"राजकुमार जितनी भीतर की उधेड़बुन में था, चंदन उतना ही बाहर की छानबीन में । चौरंगी की रंगीन परकटी परियों को देख जिस नेम से उसके विचार के रथ-चक्र बराबर चक्कर लगाया करते थे, उसी से देश की दुर्दशा, भारतीयों का अर्थ-संकट, सम्पत्ति-वृद्धि के उपाय, अनेकता में एकता का मूल सूत्र आदि-आदि सद्विषयों की अनेक उक्तियों की राह से वह गुजर रहा था ।"[2]

कनक के संदर्भ में देखें, तो वह अपने परंपरागत पेशे- वेश्यावृत्ति --को छोड़कर 'प्रेम की सीमित, पर दृढ़ बाहों में सुरक्षित, बंध रहना' पसंद करती है । यह उसका विद्रोह ही है, क्योंकि उसे पग-पग पर सिखाया गया था --" किसी से प्यार मत करना । हमारे लिए प्यार करना आत्मा की कमजोरी है, धर्म

1- निराला रचनावली, भाग -3, पृ० 97 -'अप्सरा' में राजकुमार और चंदन का संवाद ।

2- वही, पृ० 123

नहीं ।"[1] गंधर्व-कुमारिका की परंपरा में प्रेम और कला की उपयोगिता ऐश्वर्य, सम्मान और विभूति को प्राप्त करने में थी । इन सब परंपराओं - रूढ़ियों को तोड़कर वह जीवन का नया रास्ता चुनती है और आशा और निराशा के तमाम द्वन्द्वों से गुजरती है -" जो प्रेम कभी थोड़े समय के लिए उसके अंधकारमय हृदय को मणि की तरह प्रकाशित कर रहा था, वही अब दूसरों की परिचित आंखों के प्रकाश में जीवन के कलंक की तरह स्याह पड़ गया है । अंधकार पथ पर जिस एक ही प्रदीप को हृदय के अंचल में छिपा वह अपने जीवन के तमाम मार्ग को आलोकमय कर लेना चाहती थी, हवा के अकारण झोंके से ही गुल हो गया । उस हवा के आने की पहले ही उसने कल्पना क्यों नहीं की । . . . अब ? अभी तो पूरा पथ ही पड़ा हुआ है ।"[2]

इस जीवन समर के तमाम द्वन्द्वों, आशाओं, निराशाओं में तत्कालीन अंतर्विरोधों को देखा जा सकता है, जब पूरा स्वाधीनता संग्राम बार-बार आशा और निराशा के प्रवाह में दिग्भ्रमित और अलक्ष्य होकर रह जाता था ।

'अप्सरा' में जीवन संघर्ष में मुक्ति का रास्ता निराला खोजते हैं, लेकिन वह काल्पनिक होकर रह जाता है । राजकुमार अपने अन्तर्द्वन्द्व से बाहर निकलता है, कनक से विवाह कर, चंदन 'राजकुमार वर्मा' के धोखे में एक साल की सख्त कैद काटने चला जाता है । राजकुमार का सुंदर स्त्री, धन, वैभव, कलात्मक सृजन में सफलता, सब कुछ प्राप्त करना, रामविलास शर्मा के अनुसार, 'अखरता है, फिर भी निराला उसके आकर्षण से मन को बचा नहीं पाते ।'[3]

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 20 - 'अप्सरा' उपन्यास में सरस्वती का कथन ।

2- वही, पृ० 69

3- रामविलास शर्मा -'निराला की साहित्य-साधना', भाग-2, पृ० 462, द्वितीय संस्करण, 1981

बहरहाल, हमें लगता है कि इस कला के आकर्षण के समानांतर चंदन के जिम्मेदार, समर्पित चरित्र को दिखाना ही निराला का अभीष्ट भी था । यह बात उपन्यास के अंत से और भी स्पष्ट है, जहां चंदन को राजकुमार वर्मा के रूप में गिरफ्तारी से अनभिज्ञ कनक और राजकुमार को हंसते दिखाया गया है । अंत नौकर के कनक को अखबार लाकर देने से होता है ।

कहना न होगा, कि निराला यह दिखाना चाहते हैं, कि वे दोनों कितने भ्रम में हैं और अभी यथार्थ उन्हें उन भ्रमों से बाहर ले आएगा । इसलिए जीवन संघर्ष यहां खत्म नहीं होता, 'भविष्य के किसी सत्य चित्र को स्पष्ट करता है', आने वाले तूफान की तरफ संकेत करता है ।

(ख) 'अलका' : मुक्तिपथ की खोज

'अलका' का जीवन-संग्राम ज्यादा जटिल है । वहां अगर प्रेमपथ की कठिनाइयों और संघर्षों का लंबा सिलसिला और उसका सुखद अंत है, तो जीवन के दूसरी सभी पर्तों-समस्याओं पर टिप्पणी भी । सिर्फ टिप्पणी ही नहीं, संघर्ष के मौजूदा रास्तों पर विचार करने के बाद संघर्ष पथ की खोज भी । 'अप्सरा' में प्रेम संघर्ष से अलग-थलग लगता था, 'अलका' में प्रेमकथा जीवन संघर्ष का ही एक हिस्सा है । उसमें तत्कालीन परिवेश के सभी महत्वपूर्ण प्रश्न हैं ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् महामारी में मां-बाप को खो देने के बाद शीला महादेव बाबू के चंगुल से निकलकर स्नेहांकर के घर में अलका के रूप में अपने व्यक्तित्व की क्षमताओं को पहचानती है, अपने पति विजय को दुबारा प्राप्त करती है, तो उसकी कथा महासमर और महाव्याधि में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भूमिका, पूंजीवादी स्वार्थ समर में विदेशी और देशी शोषक शक्तियों की मिलीभगत से भी दिखाती है । लक्ष्मी का सामीप्य और सायुज्य ही जहां परम श्रेय है, चाहे वह शिक्षा हो या धर्म – ऐसी समाज-व्यवस्था के शोषण-तंत्र को यह कथा खोलकर सामने रख देती है । दूसरी तरफ विजय और उसके मित्र अजय

की कथा इस शोषण-तंत्र से मुक्ति का रास्ता दिखाती है। राजकुमार सैनी ने भी 'अलका' की रोमांटिक कथा के भीतर जीवन-संघर्ष को समझा है -"निराला प्रेम कथाओं के माहिर कथाकार हैं, लेकिन 'अलका' उपन्यास का महत्व उसकी रोमांटिक कथा में उतना नहीं, जितना कि इस तथ्य में अंतर्निहित है कि सन् 34 के आसपास ही निराला भारत के जमींदारों, ताल्लुकेदारों, रजवाड़ों और अंग्रेज शासकों की सांठ-गांठ के कुचक्र में पिसती हुई भारतीय खेतिहर जनता के सुशिक्षित, सुसंगठित और जुझारू बनने की ज़रूरत को बड़ी शिद्दत के साथ महसूस करने लगे थे। 'अलका' के कथ्य में यह अहसास पूरी बेचैनी के साथ सक्रिय रूप में अभिव्यक्त होता है।"[1]

वस्तुतः तीसरे दशक का वह समय है, जब स्वतंत्रताप्राप्ति के संघर्ष की क्या दिशा हो -इस पर भारतीय बुद्धिजीवी एकमत नहीं थे। एक तरफ गांधीजी का अहिंसात्मक संघर्ष, दूसरी तरफ कुछ आतंकवादी संगठनों की गतिविधियां, कुछ सामाजिक-आर्थिक सुधारों को व्यावहारिक रूप देने के पक्षपाती, तो दूसरी तरफ कम्युनिस्ट विचारों का समाजवाद - ये सब विचारधाराएं 'अलका' में देखी जा सकती हैं। विजय इस संघर्ष में जो रास्ता चुनता है, वह है किसानों का रास्ता। (प्रभाकर के रूप में उसे कुली-मजदूरों के साथ भी दिखाया गया है।) निराला इस उपन्यास में मुक्ति के वास्तविक अर्थ-शोषण से मुक्ति- को पहचानते हैं, जिसके लिए जरूरी है संघर्ष की वास्तविक शक्ति - किसानों और मजदूरों को संगठित करना। रामविलास शर्मा के अनुसार, "किसान संगठन कांग्रेस के साथ मिलकर या अलग से, संघर्ष में पराजित होने पर किसान अपने क्रांतिकारी नेताओं का साथ छोड़ दें, तो ये नेता क्या करें, इस तरह की समस्याओं पर निराला ने हिन्दी कथा-साहित्य में पहली बार विचार किया है। उपन्यास में वर्ग संघर्ष का आर्थिक रूप ही प्रस्तुत नहीं किया, सामाजिक जीवन की रूढ़ियों, उन्हें तोड़ने की

1- राजकुमार सैनी -'साहित्य स्रष्टा निराला', पृ0 72, प्रथम संस्करण, 1981

कठिनाइयों का चित्रण भी किया है।"[1]

लेकिन किसानों के संघर्ष का रास्ता चुनने के बाद भी उपन्यास में उसकी अधूरी परिणति ही होती है। विजय किसानों का संगठन करने पर जेल जाता है, लेकिन जेल से छूटने पर निराला उसका नया ही व्यक्तित्व खड़ा कर देते हैं, प्रभाकर के रूप में, जो कुलियों में शिक्षा-संगठन का रहा है। अलका उसकी तरफ आकृष्ट होती है और अंत में ही अलका और पाठक यह जान पाते हैं कि विजय और प्रभाकर एक ही आदमी हैं। क्या मुरलीधर जमींदार की अलका द्वारा हत्या और विजय से मिलने पर खत्म होती है। रामविलास शर्मा ने इस अंत पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'वह (विजय) अब अलका के साथ रह सकेगा, किंतु इससे किसान समस्या हल नहीं होती।'[2] उनका मानना है कि निराला ने इस उपन्यास में क्रांतिकारी जीवन को लेकर स्वप्नपूर्ति के सपने रचे हैं।

इसमें शक नहीं कि क्रांतिकारी जीवन के बारे में निराला की एक काल्पनिक धारणा है, लेकिन तत्कालीन समय में तो क्या, आज भी किसी मध्यवर्गीय व्यक्ति के मन में क्रांतिकारी की एक काल्पनिक तस्वीर रहती है, जिसके साथ वह उन सब विशेषताओं और गुणों को जोड़ता है, जिन्हें वह अपने वास्तविक जीवन में प्राप्त नहीं कर सकता। जहाँ तक उपन्यास के अंत का सवाल है, यहाँ भी कथा का कोई अंतिम अंत नहीं किया गया है। विजय को अजित के ये शब्द –'तुम्हें वही किसान फिर बुला रहे हैं भाई',– आगे की कथा के लिए भी काफी अवकाश छोड़ते हैं और संघर्ष के जारी होने की भी बात कहते हैं।

1- रामविलास शर्मा –'निराला की साहित्य साधना', भाग-2, पृ0 464

2- वही, पृ0 464

(ग) 'निरुपमा' : 'बुद्धिजीवी' वर्ग की प्रेमकथा

'निरुपमा' उपन्यास में निराला ने निरुपमा और कुमार की प्रेमकथा कही है । कथा पहले जैसी ही है, प्रेमपथ में आने वाले कंटकों को दूर कर अंत में प्रेमी युगल मिलते हैं, लेकिन परिवेश यहाँ दूसरा है । यह 'बुद्धिजीवी' वर्ग की प्रेमकथा है, कुमार 'यूरोप की मुख्य भाषाओं का समझ भर के लिए अध्ययन कर' लंदन की डी॰ लिट॰ की उपाधि लेकर लौटा है, लेकिन 'पूँछ में बालों का गुच्छा मोटा' न होने के कारण बेरोजगारी के दौर से गुजरता है और अपनी योग्यता और जाति-धर्म की परवाह न कर जूते पालिश करने का धंधा करता है। यह धंधा जहाँ उसकी संसार से मुकाबला करने की कर्म शक्ति का परिचायक है, वहीं 'व्यक्ति' के 'अहं' को भी संतुष्ट करता है ।

निरुपमा एक ओर शिक्षित नारी की मुक्ति से संबंधित तमाम प्रश्नों के द्वन्द्व को प्रस्तुत करती है, वहीं उसकी जमींदारी की पृष्ठभूमि वर्ग-संघर्ष के कई पहलुओं को स्पष्ट करती है ।

इस उपन्यास में भी निराला प्रेमकथा के ढाँचे के अंदर तत्कालीन सामंती मूल्यों से लेकर आधुनिक मध्यवर्गीय बौद्धिकपन पर प्रश्न-चिह्न लगाते हैं । निरुपमा के मामा योगेश बाबू की जमींदारी दाँव-पेंच, और यामिनी बाबू का 'बुद्धिजीवी कल्चर' ऐसे ही प्रश्न हैं । क्यों संस्कृति हृदय को संस्कृत नहीं करती, जमींदारी क्यों सत्य के मार्ग पर रह नहीं पाती, क्यों आधुनिक शिक्षित युवती भी अपनी इच्छाओं की सामंती मानमर्यादाओं में आहुति देने को तैयार है, उन्हें तोड़ने की शक्ति वह क्यों नहीं जुटा पाती, निराला इन सब सवालों की तह में जाते हैं ।

लेकिन अंत में मुक्ति का जो रास्ता यहाँ खोजा गया है, यानी यामिनी बाबू का जबर्दस्ती मिस दूबे से विवाह और निरुपमा का चोरी से कुमार से विवाह, तमाम चमत्कारों और कल्पनाओं से भरा है और बुद्धिजीवी प्रेम की कमजोरियों और असंगतियों को भी दिखाता है । साथ ही मुखिया की टिप्पणी — "पागल हो,

राजा से कोई बैर करता है । अब वे दिन नहीं हैं । लखनऊ में कितने बिलहतिहा हैं, उनके हाथ का पानी बंद है ?"[1] – यह दिखाती है कि सामंती मूल्य अगर टूटते हैं तो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही । अपने सामंती संस्कारों के प्रति कोई कितना ही दृढ़-प्रतिज्ञ और समर्पित क्यों न रहा हो, अपने स्वार्थ की खातिर वह उन मूल्यों को तोड़ने या अपने हिसाब से बदलने में नहीं झिझकता ।

(घ) 'प्रभावती' : अतीत के प्रसंग से वर्तमान पर विचार

'प्रभावती' में निराला ने ऐतिहासिक कथा को आधार बनाकर घटनाओं की काल्पनिक सृष्टि की है । कथा तंत्र बहुत जटिल है और एक साथ कई प्रकरण और प्रेमप्रसंग चलते हैं । एक तरफ प्रभावती और राजकुमार देव की प्रेमकथा है, जो बाद में त्रिकोण प्रेमकथा हो जाती है और प्रभावती के बलिदान पर खत्म होती है । दूसरी तरफ यमुना और वीरसिंह की कथा है । यमुना अपने भाई राजा बलवंत सिंह के अन्याय-अत्याचार का विरोध करती है — व्यक्तिगत जीवन में सैनिक वीरसिंह से विवाह कर और सामाजिक जीवन में किसानों की नयी सेना बनाकर । उपन्यास के अंत में पृथ्वीराज संयोगिता की इतिहास प्रसिद्ध कथा है । संयोगिता स्वयंवर के बाद प्रभावती सैनिक वेश में उनकी रक्षा करते हुए ही आत्मोत्सर्ग करती है ।

इस उलझे हुए कथासूत्र के पीछे कई बातें स्पष्ट उभर कर आती हैं । मध्ययुग के उस खास दौर में विदेशी आक्रमणों और देशी सामंतों के आपसी वैमनस्य में पिसते किसान वर्ग की दशा भी निराला दिखाते हैं । अतीत की कथा सुनाकर निराला वर्तमान स्थिति पर प्रकारांतर से विचार करते हैं, क्योंकि "राजनीति सब समय एकसी है । राजा या राज्य की ऐश्वर्य-सत्ता का भोग करने वाले कभी वृहत् अंश साधारण की भलाई के लिए नहीं छोड़ सकते । यह भोग अपनी सार्वकालिक महिमा में एक-सा है, परिवर्तन भोग के उपायों में हुए हैं ।"[2] विदेशी साम्राज्यवाद

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 433 - 'निरुपमा' उपन्यास

2- वही, पृ0 263 -'प्रभावती' उपन्यास

और देशी सामंतवाद से मुक्ति का यह संघर्ष उपन्यास में जटिल कथातंत्र के रूप में व्यक्त होता है । षड्यंत्रों, तिकड़मों, चालों की अधिकता यह बताने के लिए है कि राजनीति में कई दांव-पेंचों की ज़रूरत होती है, मुक्ति का रास्ता सीधा नहीं है ।

इस मुक्तिपथ में नारी की महत्वपूर्ण भूमिका है । निराला उपन्यास में वीरांगना नारी का एक नया अर्थ प्रस्तुत करते हैं । वह सिर्फ प्रेमपथ पर त्रस्त होने वाली नारी या पति के लिए सती होने वाली नारी नहीं, उसका आदर्श इससे आगे और भी है । " जिससे प्राणिमात्र प्रीत हो, गुरुदेव कहते हैं, वही सती ब्राह्मण है ; जिससे समस्त जाति प्रीत हो, शक्ति पाए, वह क्षत्राणी । हमें प्रजा की सेवा के लिए अपना सर्वस्व दे देना होगा ; मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और स्थूल शरीर से, इस क्षात्रधर्म्या में अमृत सींचकर प्रजा की प्रीति लेनी है – उन्हें जीवन देकर आदर्श सिखलाना है, फिर ईर्ष्यादग्ध या वीरगति प्राप्त पति की चिता में जलकर पति-ब्रह्म में लीन होना, इस एक उद्देश्य के अनेक कार्य हैं . . . . "[1]

इस उपन्यास में भी दूसरे उपन्यासों की तरह क्रांति और संगठन का कार्य मध्यवर्गीय स्वप्न भर बनकर रह जाता है, क्योंकि संगठित ये खुद नहीं, एक सामंत द्वारा होते हैं । रामविलास शर्मा ने लिखा है कि 'जनता जहाँ सामंत के बिना लड़ती है या सामंत के विरुद्ध लड़ती है, वहाँ निराला की निगाह नहीं जाती । उनकी दृष्टि सामंती वैभव के गर्द-गिर्द इतनी घूमती है कि किसान जीवन के चित्र उभर नहीं पाते ।'[2]

लेकिन निराला की इस सीमा को हमें उनके वक्त के संदर्भ में समझना होगा, क्योंकि वह वक्त ही ऐसा था, जब व्यक्ति की चेतना में समाज के प्रति एक असंतोष

1- निराला रचनावली,-भाग-3, पृ0 262 -'प्रभावती' उपन्यास

2- रामविलास शर्मा -'निराला की साहित्य साधना', भाग-2, पृ0 465

था, जिसे वह बलिदान, त्याग या आत्मोसर्ग के भावुक आदर्शों में नहीं दूर कर पा रहा था । उसके लिए ज़रूरी हो गया था असंतोष के विरुद्ध संघबद्ध संघर्ष का प्रयास, जो व्यक्ति-संघर्ष से ही निकला था । इन सभी उपन्यासों में वैयक्तिकता की सामाजिकता में इसी परिणति को देखा जा सकता है ।

इन चारों उपन्यासों में जो बात सबसे ज़्यादा स्पष्ट होती है, वह यह, कि निराला की प्रवृत्ति में ही बंधन नहीं है, इसलिए वह किसी भी किस्म की दासता या पराधीनता को सहन नहीं कर पाते । मानव के मुक्त सह-अस्तित्व से जुड़े तमाम प्रश्नों को वह एक चुनौती के रूप में उपन्यासों में रख देते हैं । उनके अपने समाधान कितने भी काल्पनिक या असंगत क्यों न ठहरा दिए जाएं, जीवन के जटिल यथार्थ को पहचानने की क्षमता उनमें है । यही कारण है कि निराला का कथाकार रूप स्वभावतः आलोचनात्मक हो गया है । आर्थिक दबावों, साहित्यिक आक्रमणों के जीवन समर ने उन्हें जो कटुता दी है, उपन्यासों में व्यवस्था की आलोचना करते हुए वह कटुता बराबर रही है ।

तृतीय अध्याय

'तोड़ो तोड़ो कारा...'

(निराला के उपन्यासों का कथ्य और स्वच्छंदतावादी चेतना)

(1) व्यक्ति का जीवन संग्राम

समाज, धर्म और प्रकृति — व्यक्ति के जीवन के तीन मूल संघर्ष क्षेत्र रहे हैं। ये उसकी बुनियादी जरूरत भी थे और मानव-अस्तित्व को निर्धारित करने वाले भी। व्यक्ति को सृजन की इच्छा थी, उसने समाज रचा। उसे विश्वास की ज़रूरत थी, उसने धर्म ढूंढा। उसे जिंदा रहना था उसने प्रकृति को दोस्त बनाया। लेकिन इन तीन चीज़ों ने उसके जीवन में तमाम द्वन्द्वों की सृष्टि की — धर्म ने अंधविश्वासों — रूढ़ियों के रूप में, समाज ने पूर्वाग्रहों के रूप में और प्रकृति ने आपदाओं के रूप में। स्वच्छंदतावाद में व्यक्ति के संघर्ष और मुक्ति की आकांक्षा का संबंध इन्हीं तीन संघर्षों से था।

निराला का जीवन संग्राम भी इसी मूल संघर्ष से जुड़ा है। इस जीवन समर की कई मुद्राएं हैं। कभी वह व्यक्ति के जीवन पथ का संघर्ष है, तो कभी एक 'मानवीय' समाज रचने का सपना। कभी यह आकांक्षा और अप्राप्ति का अपराजित समर है, जहां व्यक्ति के मोहभंग और अंतर्विरोध उसकी राह को धुंधला करने लगते हैं, और वह दुबारा संघर्ष में प्रवृत्त होता है। कभी यह जीवन समर तत्कालीन मुक्ति संग्राम है, जहां गुलामी के वास्तविक कारणों की पहचान का निराला 'सुराज' का वास्तविक अर्थ खोजते हैं।

निराला के जीवन समर का व्यक्ति संशय और समाधान के बीच दुविधाग्रस्त व्यक्ति है, जो एक बार भी जीवन की गति और उसके आदर्श निर्धारित कर लेता

है, लेकिन जीवन पथ पर बार-बार मिलने वाली पराजय के कारण वह टूटता है, हताश होता है, जीवन की दिशा खो बैठता है । यह संघर्ष का अंत नहीं । यह व्यक्ति दोबारा शक्ति का संचय कर संघर्ष में प्रवृत्त होता है और अन्ततः अपने लक्ष्य या मुक्ति को प्राप्त करता है । व्यक्ति का यह संघर्ष कभी प्रेमकथा के ढाँचे के भीतर है, तो कभी तत्कालीन मुक्तिसंग्राम से सीधे-सीधे जुड़ा है ।

(क) प्रेमपथ की मुक्ति

प्रेम के प्रचलित मध्यकालीन मूल्यों और धारणाओं से भिन्न निराला का प्रेम स्वच्छंद और उन्मुक्त है । वह परंपरागत रूढ़ियों के अंदर नहीं बंधता, बल्कि अपने नए-नए अर्थ तलाश करता है । 'अप्सरा' उपन्यास में कनक के लिए यह जीवन मुक्ति का प्रश्न है । गंधर्व कुमारिका होने के कारण उसे जिस 'अप्सरा' जीवन के लिए तैयार किया गया था, उस पूर्व-निर्धारित नियति से विद्रोह कर वह जीवन का नया पथ चुनती है — प्रेम का पथ । यही उसकी मुक्ति है । अप्सरा जीवन की मुक्ति यह नहीं थी । उसकी मुक्ति कला की उस साधना में थी, जो विभूति, ऐश्वर्य और सम्मान को देती है । प्रेम का अर्थ वहाँ गुलामी था । कनक इसी सीमित समझे जाने वाले प्रेम में जीवन का सत्य, उसकी मुक्ति खोजती है ।

यह पथ कभी अंधकारमय हो जाता है, तो कभी अपने प्रिय राजकुमार को प्रदीप बनाकर वह पूरे पथ को आलोकमय कर लेना चाहती है । कभी यह प्रदीप हवा के किसी अकारण झोंके के कारण बुझ जाता है और जीवन में शक्ति, आशा और सौंदर्य का एक भी क्षण नहीं दिखाई देता । इस चरम विषाद के क्षण में टूटन है, पराजय है, दिशा हीनता भी है, लेकिन यह विश्वास भी कि 'राजकुमार के प्रति उसके प्रेम का यह प्रखर प्रवाह, बंधी हुई जलराशि से छूट कर अनुकूल पथ पर बह चलने की तरह स्वाभाविक और सार्थक है ।'[1]

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 33 -'अप्सरा' उपन्यास ।

यह विश्वास ही उसे संघर्ष की शक्ति देता है और अंततः राजकुमार उसके प्रेम और समर्पण को पहचानता है ।

राजकुमार के लिए भी यह जीवन पथ का संघर्ष है, जिसमें प्रेम और कर्तव्य के परंपरागत द्वन्द्व में वह अपने ही पूर्वनिर्धारित पथ पर प्रश्न-चिह्न लगाता है और अपने अस्तित्व को दोबारा पहचानता है । प्रेम को जीवन-समर से अलग भोग विलास की वस्तु समझना सामंती मनोवृत्ति थी । इसी धारणा के कारण तत्कालीन मध्यवर्गीय युवक क्रांति और संघर्ष को जीवन की वास्तविकता के रूप में देखता था और प्रेम को पलायन के रूप में । निराला प्रेम की यह धारणा तोड़ते हैं और उसे जीवन-समर के रूप में रखते हैं । गाड़ी में राजकुमार का कनक को अपनी स्त्री स्वीकार करना आत्मज्ञान का वह क्षण है, जब वह इस बात को पहचानता है कि उसका निष्क्रिय अहंभाव केवल प्रतिघात ही कर सकता है, सृजन नहीं । प्रेम सृजन की सबसे बड़ी शक्ति है ।

'अलका' उपन्यास में व्यक्ति की इस जीवन मुक्ति को शोभा के सन्दर्भ में देखा जा सकता है । मां-बाप की मृत्यु और अनदेखे पति विजय की कोई खबर न होने पर वह नासमझी और भोलेपन में जमींदार के चंगुल में फंस जाती है । इस सच का ज्ञान होने पर उसका वहां से भाग निकलना और स्नेहशंकर के घर में एक नया जीवन, एक नया व्यक्तित्व (एक नया नाम -- अलका भी) पाना उसका मुक्ति पथ है । इस मुक्तिपथ की शुरूआत है ज्ञान । इसमें प्रेम के परंपरागत आदर्शों का टूटना भी है और देश के स्वाधीनता संग्राम के परि-प्रेक्ष्य में नारी मुक्ति का वास्तविक अर्थ भी ।

निराला अलका के माध्यम से नारी के त्याग और क्षमा जैसे आदर्शों की परंपरागत रूढ़ि को तोड़ते हैं, क्योंकि पत्नी के लिए तो इस व्यवस्था में प्रेम का अर्थ त्याग और तपस्या है लेकिन पति के लिए इन आदर्शों का भावनात्मक शोषण । 'अलका' उपन्यास में थियेटर वाले प्रसंग में इसे देखा जा सकता है ।

'सच्चा प्यार' नामक इस नाटक में किसान युवती एक राजा के प्रेम में पड़कर उसे अपना सर्वस्व तो देती ही है, उसकी प्रतिष्ठा बचाए रखने के लिए, उसका सारा दोष भी अपने ऊपर लेकर 'पत्नी-धर्म' का परिचय देती है। जिंदगी भर अस्तबल में कलंकिनी बनकर रहने के बाद उसे मरते वक्त ही पति की गोद नसीब होती है और महाराज उसका एक स्मारक बनाकर ऐसी प्रेम की मूर्ति पर रोज पुष्पांजलि अर्पित करते हैं। दर्शक वर्ग उसके त्याग और 'उच्च आदर्श' पर वाहवाही करता है, लेकिन अलका न केवल इस त्याग का खोखलापन पहचानती है, बल्कि यह कटु सत्य भी कि युवती चूंकि नीच कुल की है, इसलिए साधारण जनों की दृष्टि में इसे राजा का पत्नी रूप कभी नहीं मिल पाएगा।

इसी तरह अपने विवाहिता होने पर भी अलका एक अनजान व्यक्ति प्रभाकर के प्रति आकृष्ट होती है। निराला इस प्रेम को पंकिल और अनैतिक नहीं मानते क्योंकि 'अलका के हृदय को विश्वास है, वह किसी प्रलोभन या स्वार्थ से प्रभाकर की ओर नहीं खिंच रही।'[1] यह बात दूसरी है कि प्रभाकर ही उसका पति भी निकलता है। इसी तरह वीणा भी विधवा होने के बावजूद अजीत से प्रेम करती है।

(ख) नारी मुक्ति का वास्तविक पथ

निराला उपन्यासों में जहां नारी के भावुक आदर्शों का अंत बताते हैं, वहां नारी का नया आदर्श रूप भी प्रस्तुत करते हैं। यह नारी दासता की बेड़ियां तोड़कर अपने व्यक्तित्व को पुनः उद्घाटित करती है और आत्मप्रसार से

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 219 - 'अलका' उपन्यास

राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम में सक्रिय भूमिका निभाती है । वह 'जलवा' के रूप में कुलियों की बोलियों में उनकी स्त्रियों को पढ़ाती है, क्योंकि निराला का मानना है कि शिक्षा जहाँ समान अधिकारों के संघर्ष के लिए ज़रूरी है, वहीं देश की स्वाधीनता के लिए भी । 'घर की छोटी-सी सीमा में बंधी हुई स्त्रियाँ आज अपने अधिकार, अपना गौरव, देश तथा समाज के प्रति अपना कर्तव्य, सब कुछ भूली हुई हैं । . . . उन्हें यह जो शिक्षा दी जाती है कि तुम्हें अपने पुरुष के सिवा किसी दूसरे पुरुष का मुख नहीं देखना चाहिए, यह उनके अंधकार जीवन में टार-पेटिंग है । सिर झुकाए हुए ही उन्हें तमाम जीवन पार कर देना पड़ता है । इस उक्ति का यथार्थ तत्व उन तक नहीं पहुँचता ।'[1] इसलिए नारी की शिक्षा का अर्थ 'सारंगा-सदावृक्ष' की कहानी भर पढ़ लेना नहीं, बल्कि उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है, स्वावलंबन की शिक्षा है और वायु की तरह मुक्ति है । तभी वे जाति, धर्म तथा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व निभा सकती हैं और तभी देश भी वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है । स्त्री अगर मुक्त नहीं, तो 'अब के पुरुषों की तरह उनके बच्चे भी, गुलामी की अंधेरी रातों में उड़ने वाले, गीदड़ होंगे ; स्वाधीनता के प्रकाश में दहाड़ने वाले शेर नहीं हो सकते ।'[2]

'प्रभावती' उपन्यास में भी निराला नारी मुक्ति के इसी आदर्श को सामने रखते हैं । वहाँ प्रभावती, रत्नावली, विद्या, यमुना जैसी नारियाँ ही देश की स्वाधीनता के लिए भी लड़ती हैं, प्रेम करने की आज़ादी के लिए भी संघर्ष करती हैं और जन-साधारण को अत्याचार - शोषण के खिलाफ खड़ा भी करती हैं ।

1- निराला रचनावली, भाग-6, पृ० 119-120 - स्फुट निबंध - 'बाहरी स्वाधीनता और स्त्रियाँ' ।

2- वही, पृ० 123

मुक्ति-संघर्ष के इस पथ में निराला नैतिक-अनैतिक की रूढ़ि भी तोड़ते हैं। उनके उपन्यासों की नारी समाज द्वारा बाँधी गई नैतिकता की सीमाओं को भी तोड़ सकती है और इस पर वह 'खलनायिका' नहीं हो जाती। 'प्रभावती' में नर्तकी विद्या राजा महेन्द्रपाल की मुक्ति के लिए महाराज को सुरा पिलाकर मदहोशी में मुक्ति के आदेश पर हस्ताक्षर करवा लेती है, तो 'अप्सरा' में कनक राजकुमार पर लगाए गए झूठे आरोप को हटाने के लिए मुक्ति का जो उपाय ढूँढती है उसमें उसे दारोगा और अंग्रेज़ हेमिल्टन को सुरा पिलाकर ही उनका भेद लेना पड़ता है। निराला के विचार में यह वर्जित नहीं, क्योंकि इसके पीछे वह सार्थक उद्देश्य है जो व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि नहीं, व्यापक मुक्ति का प्रश्न है।

निराला की दृष्टि में नारी-स्वातंत्र्य की तरफ़ पहला क़दम गीता की मुक्ति है। 'निरुपमा' उपन्यास में निरुपमा एक तरफ़ कुमार के प्रेम में अपनी भीतरी दुर्बलताओं और क्षमताओं को पहचानती है, अपने सामंती संस्कारों को तोड़ती है, वहीं ज़मींदार के रूप में गाववालों से प्रेम और सौहार्द का व्यवहार सामने रखती है। इतना ही नहीं, वह समाज को रचने के व्यक्ति के अर्थ को भी पहचानती है कि 'प्राणों की मैत्री के लिए समाज की आवश्यकता है, वैषम्य की सृष्टि को -- इसके लिए नहीं; जो समाज शांति नहीं दे सकता, उसका त्याग करना ही उचित है।'[1]

स्वच्छंदतावादियों की समाज के प्रति यही धारणा रही है। उनके लिए समाज मानव के मुक्त सह-अस्तित्व के लिए है, मानव ऊर्जा को विशृंखलित करने के लिए नहीं। इसीलिए वे एक नया समाज रचने की कल्पना करते हैं।

(ग) रूढ़ियों से मुक्ति

नया समाज रचने के लिए ज़रूरी है रूढ़ियों से मुक्ति। निराला महसूस करते हैं कि 'रूढ़ियाँ कभी धर्म नहीं होतीं, वे एक-एक समय की बनी हुई

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 409 -'निरुपमा' उपन्यास

सामाजिक श्रृंखलाएं हैं । वे पहले की श्रृंखलाएं जिनसे समाज में सुघरापन था, मर्यादा थी, अब जंजीरें हो गई हैं । अब उनकी बिलकुल आवश्यकता नहीं । अब उन्हें तोड़ कर फेंक देना चाहिए ।'[1] यह महत्वपूर्ण है कि निराला के उपन्यासों में व्यक्ति के जीवन-समर में ही इन रूढ़ियों को तोड़ा भी गया है और मानवीय समाज रचने का संकल्प भी किया गया है ।

ये रूढ़ियां जहां प्रेम और नारी-पराधीनता की रूढ़ियां हैं, वहीं धर्म की भी, साहित्य और कला की भी । निराला मानते हैं कि 'समाज जब तक गतिशील है, सृष्टि के नियमों में बंधा हुआ है, तब तक वह निष्कलुष नहीं ; कारण वही, सृष्टि सदोष है । परंतु चूंकि समाज निर्मलत्व की ओर गतिशील है, इसीलिए उसके अंगों से हरतरह के कलुष के निकलने की चेष्टाएं की जाती हैं ।'[2] ब्रह्म-समाज और आर्यसमाज का महत्व उनके लिए इसी कारण है, कि वे प्राचीन हिन्दू समाज की संकीर्णता और अनुदारता से मुक्ति दिलाते हैं, उन सामंती रूढ़ियों से, जहां धर्म का अर्थ केवल मातमपुर्सी में सहानुभूति प्रदर्शन या गांव की लड़की के भाग जाने पर उसके चरित्र पर आक्षेप भर करना रह गया है । ('अलका' में शोभा का प्रसंग) । इसी उपन्यास में जमींदार गिरधारी लाल के प्रसंग में निराला धर्म को प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य और शोषण के साधन के रूप में दिखाकर व्यंग्य भी करते हैं । "बात यह हुई कि उनके समय में आर्यसमाज का आंदोलन जोरों से शुरू हुआ । हिन्दू-समाज की इमारत इस भूकम्प से बार-बार हिलने लगी । मूर्तियों के मृदुल पूजा-भावों पर बार-बार मामूद की-सी प्रखर तलवार के वार होने लगे । हिन्दू जनता के मूर्तिपूजन के भय को प्रश्रय देकर सनातन समाज की निष्ठा पर प्रतिष्ठित होने के विचार से उन्होंने यह मौका हाथ से न जाने दिया। इस तरह प्राचीन कलंक नवीन धार्मिक उज्ज्वलता से धुलकर हृदय के तत्व से

1- निराला रचनावली, भाग-6, पृ0 121 स्फुट निबंध -'बाहरी स्वाधीनता और स्त्रियां' ।

2- वही, पृ0 99, -निबंध -'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति' ।

ही मिल गया । ... जमींदारी के लोगों के प्रत्येक प्रकार के ताप का भाप द्रवित घी-हो का वही बरसने लगा, और गिरधारीलाल गिरवर की ही तरह ऐश्वर्य के जल से भरते रहे । बढ़ा हुआ जल सनातन प्रथा के नदीपथ से बराबर सरकार के समुद्र की ओर बहता रहा । जमींदारी के लोग प्यास बुझाने के लिए बराबर पत्थर फोड़-फोड़कर कुएं बनाते रहे ।"[1]

निराला के लिए ब्रह्म-समाज का महत्व उसकी उदारता, जाति-पाति का भेदभाव न मानने, अंतर्जातीय विवाह, नारी की आजादी इत्यादि में है । 'निरुपमा' उपन्यास में 'कमल' के प्रसंग में इसे देखा जा सकता है, जो काव्य, विज्ञान, दर्शन, इतिहास, राजनीति तक को समझती है और प्रेम में भी स्वच्छंदता को महत्व देती है ।

आर्यसमाज का महत्व निराला के लिए 'सनातन धर्म के सोशलिज्म का दिग्दर्शन' कराने में तो है लेकिन उसकी खुद की कट्टरता पर उन्हें आपत्ति है । 'अलका' उपन्यास में आर्यसमाज की हवन पद्धति पर निराला सावित्री के माध्यम से व्यंग्य करते हैं —"आजकल आग में घी फूंकना बेवकूफी है, जब घी खाने को नहीं मिलता । ... जहां मनों घी बेवकूफी में जलता हो, वहां आर्य निस्संदेह अनार्य हो गए हैं । वह घी और यव गरीबों के पेट के अग्नि-कुंड में जलकर उनकी नसों में रक्त तथा जीवनीशक्ति संचित करके ही यज्ञ की सर्वोच्च व्याख्या से सार्थक होगा ।"[2]

इसी प्रसंग में निराला का वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आक्रोश भी देखा जा सकता है । वह ऊंच-नीच, छुआ-छूत के सामंती शोषण में पिसती निम्नजातियों के मर्म को समझते हैं, इसलिए उन पर दया दिखाने का मध्यवर्गीय कर्तव्य

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 142 — 'अलका' उपन्यास ।

2- वही, पृ0 179 — 'अलका' उपन्यास ।

भर नहीं निभाते, उनसे अपनापन महसूस करते हैं । 'अलका' उपन्यास के निरूपाकर में यह अपनापन महसूस किया जा सकता है, जहां भीला चमार भुलियां देने आता है, तो सावित्री उसे निकट ही बिठाकर चमड़े का बाज़ार गिरने का हाल पूछती है या मन्ना पासी सदर्प 'भौजी भौजी' की निर्भीक आवाज़ लगाकर सावित्री के हाथ पर हंसते हुए मांस का दौना रख सकता है । रामविलास शर्मा ने लिखा भी है –''निराला के लिए अछूतोद्धार कोई 'रचनात्मक कार्यक्रम' न था जो राजनीतिक आंदोलन से छुट्टी मिलने पर फुर्सत के वक्त अपना लिया जाता। निराला के लिए जाति प्रथा का विनाश और समानता के आधार पर समाज का पुनर्गठन एक राजनीतिक कर्तव्य था ।"[1]

निराला वर्णाश्रम व्यवस्था का टूटना भी देखते हैं, भुखमरी और बेकारी के कारण पुराने पेशों का टूटना भी, जहां ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व पर गर्व करने का कोई कारण नहीं रह गया है । 'अलका' उपन्यास के गांव में 'कुछ ब्राह्मण हैं, जो अत्यंत दरिद्र, बकरियों का कारोबार करते हैं, अर्थात् बकरियां पालकर बच्चे बकर-कसाइयों को बेचते हैं । दो-तीन घर ऐसे भी, जो काश्तकारी करते हैं । ब्राह्मण होने के कारण गांव के लोगों में उनकी पूजा है पर तभी तक, जब तक वे गौ ब्राह्मण हैं ।'[2] गांव में चलती बीरन पासी और उसके भाइयों की ही है, जो अपने आतंक से जमींदार, थानेदार और चौकीदार का दिमाग ठिकाने पर रखते हैं । निराला बीरन पासी की 'शक्ति, संगठन, कार्य-कलाप' का वर्णन तो खूब मज़ा लेकर करते ही हैं, ज़मींदार के प्रतिरोध के उसके ढंग, बुधुआ जैसे गरीब और शोषित किसान के प्रति उसकी सहानुभूति, व्यवस्था को बदलने की उसकी ईमानदार इच्छा की तारीफ़ भी करते हैं । यह बीरन ही है, जो चोरी-बदमाशी का धंधा करने के बावजूद गांववालों को जमींदार

1- रामविलास शर्मा - 'निराला की साहित्य साधना';भाग-2,पृ0 29

2- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 164 – 'अलका' उपन्यास ।

के बहकावे में न आने देने के लिए प्रयास करता है और कहता है — ''भई, दूध का जला मट्ठा फूंक कर पीता है । अब के सब लोग महादेव बाबा के थान पर चलकर कसम करो कि कोई एका छोड़कर जमींदार की तरफ न जाएगा ।''[1]

दूसरी तरफ 'निरुपमा' उपन्यास में निराला कुमार के माध्यम से वर्णाश्रम-धर्म की रूढ़ियां तोड़ते हैं । कुमार ब्राह्मण और सुशिक्षित होने पर भी काम न पाने पर चमार का पेशा अपनाता है । जूते पालिश करने में उसे शर्म नहीं, बल्कि गर्व ही है । इस कार्य को घृणा करने वाले उच्च वर्ण की दृष्टि से वह घृणा करता है और मानता है कि इस तरह उसकी विद्या भारत को सच्चे वर्ण-निर्माण की शिक्षा दे रही है । कहना न होगा कि इस जीवन पथ पर उसे बहुत संघर्ष करना पड़ता है । यह खबर सुनकर उसकी मां का जाति बहिष्कार कर दिया जाता है, कुएं से पानी तक नहीं भरने दिया जाता, भाई को जली-कटी सुनाई जाती है और उसे खुद भी होटल के कमरे को छोड़ना पड़ता है, क्योंकि 'होटल में जो कहार हैं वे भोजन से भी बढ़कर वैष्णव हैं, यानी आचार-शास्त्र का पालन करने वाले । उन्हें तरक्की की भी प्रचुर आशा है, क्योंकि भगवानदीन अहीर अब ठाकुर बन गया है और किसी का छुआ भोजन नहीं करता ।'[2] प्राचीन सनातन धर्म को तोड़ने के बजाय उसकी रक्षा करने की 'निम्न' जातियों की प्रवृत्ति और उनके वैष्णव आचारशास्त्र की भी निराला खिल्ली उड़ाते हैं ।

इस तरह हम देखते हैं कि निराला के इन उपन्यासों में 'व्यक्ति' की आजादी, उसके आत्मप्रसार को बांधने वाले सामंती-बंधनों और रूढ़ियों को तोड़ा गया है — फिर चाहे वह प्रेम की रूढ़ियां हों या धर्म की, और एक नया उन्मुक्त समाज रचने का सपना देखा गया है ।

1- निराला रचनावली - भाग-3, पृ0 165 - 'अलका' उपन्यास ।

2- वही, पृ0 364 - 'निरुपमा' उपन्यास ।

(2) देश की मुक्ति अर्थात् 'सुराज' का वास्तविक अर्थ

निराला की मुक्ति की आकांक्षा समाज की उन पुरानी रूढ़ियों, बंधनों और विधि-निषेधों से तो थी ही, जो व्यक्ति की आज़ादी, उसके स्वतंत्र विकास में आड़े आती है, उस मुक्ति का तत्कालीन संबंध विदेशी पराधीनता से मुक्ति से भी था। 'सुधा' की टिप्पणियों में तो निराला पराधीनता के कारणों की खोज करते ही हैं, उपन्यासों में स्वराज्य के वास्तविक अर्थ को ज़्यादा बेहतर ढंग से खोजते हैं।

'अलका' उपन्यास में रेखाओं के माध्यम से जैसे स्वयं निराला ही पूरे स्वाधीनता आंदोलन की दुर्बलताओं की पहचान करते हुए स्वराज्य का नया रास्ता ढूंढते हैं। आंदोलन के तत्कालीन कर्णधारों की सबसे बड़ी कमज़ोरी जो उनकी समझ में आती है, वह यह कि 'जिस समूह को वे स्वतंत्र कराना चाहते हैं, उसे ही अपनी आज्ञाओं का अनुवर्ती, गुलाम करने के फेर में पड़ जाते हैं।'[1] वे समझते हैं कि गुलामी सिर्फ विदेशी गुलामी नहीं, मानसिक दासता भी है। वे यह भी समझते हैं कि 'देश की स्वतंत्रता एक मिश्र विषय है, वह केवल राजनीतिक प्रगति नहीं।'[2] स्वतंत्रता का अर्थ है — व्यापक स्वतंत्रता अर्थात् देश के सभी अंगों की समान पूर्णता, लेकिन उन्हें यही दुःख है कि 'हमारी यहां ऐसा नहीं हो रहा है। हमारी यहां तो कानून के बल पर राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल की जा रही है।'[3] यह स्वतंत्रता का व्यवसाय भर है, वास्तविक स्वतंत्रता नहीं, जिसे संवादपत्रों के संपादकों से लेकर देश के भावी कर्णधार तक भुनाते हैं। संपादक ऐसी स्वाधीनता के ढोल हैं, जो केवल

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 152 — 'अलका' उपन्यास।

2- वही, पृ0 152 — 'अलका' उपन्यास।

3- वही, पृ0 152 - 'अलका' उपन्यास।

बजते हैं, बोल के अर्थ, ताल, गति नहीं जानते और नेता लोग पैतृक संपत्ति और विदेशी शिक्षा के बलबूते पर देश का भविष्य निश्चित कर रहे हैं । निराला लिखते हैं — ''एक को पैत्रिक संपत्ति मिली । पिता जज थे । पूर्ण शिक्षा भी मिली, क्योंकि अब रूपए से शिक्षा का ताल्लुक है । वह इटली, जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड, और अमेरिका आदि देशों से शिक्षोत्तीर्ण पदवियों के हीरों का हार पहनकर स्वदेश लौटे । बैरिस्टर हुए । दो करोड़ रूपया अर्जित किया । अंत में दस लाख देश को दान कर दिया । कोने-कोने तक नाम फैल गया । पत्र यशोगान करने लगे । वह देश के नेता हो गए ।"[1]

लेखक इस सब के तटस्थ द्रष्टा भर नहीं है, वह अपनी सीमाएं भी जानते हैं । "जनाभाव के कारण अपनी भावनाओं का अनुरूप विस्तार वह न कर सके, लेकिन साहित्य के ज़रिए वह इन्हीं विचारों की पुष्टि कर रहे हैं । उनके लिए स्वराज्य का अधिकारी है किसान । वही देश का वास्तविक नेता है । स्वराज्य इसी किसान का स्वराज्य है, जहाँ उसे न्याय मिलेगा, दुःख से मुक्ति मिलेगी । लेखक का मानना है कि नेता लोग जेल जाने की बजाय किसानों का संगठन करें, तो उनके जेलवास से ज्यादा उपकार हो । जेल जाने को नेता लोग जीवन का सबसे बड़ा त्याग और तपस्या तो मानते हैं, लेकिन इतना भी नहीं जानते कि 'जेल क्या बाहर नहीं'। एक ही पारतंत्र्य की दीवार जेल के भीतर भी है और बाहर भी ।"[2] इसलिए जेल सेवा में अपनी शक्ति और समय का व्यय करने से बेहतर है अपनी कमज़ोरियाँ दूर कर अपना किला मज़बूत किया जाए क्योंकि 'देश की राजनीति की अभी ऐसी दशा नहीं कि बराबर का जोड़ हो, इसलिए सुधार की तरह ही सुधार रहना चाहिए, नहीं तो हार अवश्य होगी ।'

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 153 - 'अलका' उपन्यास ।

2- वही, पृ0 153 -'अलका' उपन्यास ।

निराला को सुधार के पक्ष से ज़्यादा पसंद है सरकार के अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध का पक्ष । 'अप्सरा' उपन्यास का चंदन क्रांति का यही पक्ष चुनता है । इस पक्ष का संकेत हालांकि एकाध प्रसंग में ही मिलता है, जब उसके किसानों का संगठन करने और लखनऊ षड्यंत्र में गिरफ्तार होने की बात कही गई है, या जब उसकी किताबों को उसके राजनीतिक चरित्र के लिए आपत्तिकर होने के कारण छिपाया गया है, या जब खुफिया पुलिस द्वारा उसका पीछा किए जाने की बात कही गई है ।

'अलका' उपन्यास में अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध का पक्ष ज़्यादा स्पष्ट है । वहां विजय (नायक) कांग्रेस का पक्ष चुनने के बजाय गांव में जाकर किसान संघर्ष का रास्ता चुनता है, किसानों को जमींदार के उपद्रवों का सामना करने के लिए संगठित करता है । निराला मानते हैं कि स्वाधीनता आंदोलन की वास्तविक शुरुआत गांव में ही हो सकती है । वे लिखते हैं — ''गांवों में अभी तक कोई स्वराज्य का नाम भी नहीं जानता, इसका हमें व्यक्तिगत अनुभव है । ग्राम-प्रचार और ग्राम-संगठन की इसीलिए सख्त ज़रूरत है । गुजरात के कार्यकर्ताओं की सफलता का कारण, जेनरल पटेल की सम्पत्ति में ग्राम संगठन ही था । अतः हमारे मंच-वाग्मी यू०पी० के कार्यकर्त्ता कान्फ्रेंसों में चिल्ला-चिल्लाकर गला बैठा लेने के बजाय यदि गांवों का संगठन का कार्य आपस में बांटकर ग्राम-प्रचार और सुधार करना प्रारंभ कर दें, तो अधिक उत्तम हो ।''[1]

विजय गांव में जाकर किसानों को स्वराज्य का यही अर्थ समझाता है । 'सुराज' यानी किसानों का 'राज' । उसका मानना है कि जब तक रियाया इस अर्थ को पूरी तरह नहीं समझती, तब तक दूसरे समझदार का जुआ उसके कंधे पर रखा रहेगा । इसलिए अज्ञान के अंधेरे गढ़े से बाहर उजाले में खिंचे

1- निराला रचनावली, भाग-6, पृ0 240 — 'अलका' उपन्यास ।

3

हुए फूलों से दूसरे देशों के किसानों की दशा और सुधार का ज्ञान प्राप्त करना किसानों के लिए बहुत ज़रूरी है ।

गाँव का किसान भी यह समझने लगता है, लेकिन यह 'सुराज' आएगा कैसे, ज़मींदार और पटवारी फिर क्या करेंगे, पुलिसवाली सरकार और ज़मींदार लोग लगान वाला हक छोड़कर ख्वाब की तरह कैसे गायब हो जाएंगे, यह वह नहीं जानता । फिर भी यह सुराज उसके जीवन की एकमात्र आशा है । "बुधुआ बड़ा ही गरीब किसान है, फिर अब के उसके खेत की खरीफ डेढ़ हाथ से ज़्यादा नहीं बढ़ी ; वह भी जगह-जगह जली हुई । इसीलिए उसे सुराज की सबसे ज़्यादा खोज है कि - दो-चार रोज़ में मिल जाए, तो ज़मींदार के कोड़ों से पीठ का निकट संबंध जाता रहे ।"[1]

लेकिन यह स्वप्न अधूरा ही रह जाता है । पहले तो किसान विजय को नेता मानकर अन्याय के खिलाफ एकजुट होते हैं और डिप्टी कलक्टर के वार्षिक दौरे के समय ज़मींदार को अपनी मुफ्त सेवाएं देने से इंकार कर देते हैं । इतना ही नहीं, ये ज़मींदार से आँख मिलाकर बात करने और कलक्टर से ज़मींदार की शिकायत करने की हिम्मत जुटाते हैं । लेकिन जब ज़मींदारों का दमन बढ़ता है और वे कर्ज़दार किसानों को तंग करने के उद्देश्य से कचहरी में बाकी लगान के दावे कर देते हैं, तो 'बेचारे खेत जोतने वाले सीधे किसान, अदालत और पुलिस के नाम से डरने वाले, हवालात के ताप से सूख' जाते हैं और 'चिरकाल की संचित अपनी प्यारी कायरता के सुख की याद करके' ज़मींदार के पैरों पड़ जाते हैं ।

किसान के मुक्ति-पथ में बाधक उसके विश्वासों और संस्कारों पर टिप्पणी करते हुए निराला लिखते हैं कि दीन जनों में सामाजिक और व्यावहारिक कमज़ोरियाँ

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 160 - 'अलका' उपन्यास

ही कमज़ोरियाँ रहती हैं; जिनका ज़मींदार लोग फ़ायदा उठाते हैं । एक है डर, दूसरा अज्ञान । ज़मींदार के आतंक से बाहर आकर आत्मविश्वास से सिर ऊँचा करना उसके लिए बहुत हिम्मत का काम है, क्योंकि आतंक को सहना वह अपनी नियति समझता है । पिक्कन सोचता है कि 'अगर उसे बेगार न करनी होती, तो चमार के बदले वह ज़मींदार होकर न पैदा होता ? जब ब्राह्मण ठाकुर नहीं, तब ईश्वर ने ही उसे बेगार खटने वाला चमार बनाकर भेजा है । करनी का फल तो सबको भोगना पड़ता है ।'[1] जिस हवालात जाने के डर से किसान ज़मींदार के आगे घुटने टेक देते हैं, वह भी जातिश्रेष्ठता का झूठा अहंभाव और सामाजिक बहिष्कार का डर है कि वहाँ भंगी का बनाया भोजन भी करना पड़ता है, नहीं तो कोड़े पड़ते हैं, अगर सजा हो गयी, तो लड़के-बच्चे मर जाएँगे, दीन-दुनिया दोनों तरफ़ से गए, लौटकर रोटी देनी पड़ेगी ।

'प्रभावती' उपन्यास में भी प्रकारांतर से राजा की सत्ता के खिलाफ़ किसानों को चुनौती की तरह खड़ा किया गया है । यही किसान पहले राजा के लिए लड़ता था, क्योंकि ब्राह्मणों ने उसे सिखाया था कि राजा भगवान का रूप है, उसके लिए सर्वस्व देना चाहिए । 'इससे वेतन न पाने वाले दरिद्र सभी देशवासी उसके सिपाही थे । राजभक्ति के प्रदर्शन में उन्हें लड़ना पड़ता था । ... किसानों को भी हल की मूठ छोड़कर भगवद्धर्म का पालन करना पड़ता था ।'[2] अब उसे यमुना, प्रभावती और रत्नावली अलग-अलग स्तर पर अन्याय के विरुद्ध संगठित करती हैं । रत्नावली सरदारों को समझाती है —''वीरो, तुम राजा के लिए कट-कट कर मर जाते हो, पर अपने लिए सिर भी नहीं उठाते । तुम पर अत्याचार बढ़ते ही जा रहे हैं, पर तुम एकबार भी अपनी सदाचारिता नहीं प्रदर्शित करते ।''[3]

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 168 - 'अलका' उपन्यास ।

2- वही, पृ० 262 -'प्रभावती' उपन्यास ।

3- वही, पृ० 314 -'प्रभावती' उपन्यास ।

प्रभावती डाकू राजराजेश्वरी बनकर राजा द्वारा वसूल गया लगान रास्ते में लूटकर गाँवों के दरिद्रों में बाँट देती है और सिपाहियों को संगठित करती है । उसकी चिंता यही है कि 'किस उपाय से ग्रामीणों में शिक्षा का प्रचार होगा, बाहर रहकर भी प्राणों के भीतर पैठने का उत्तम मार्ग तैयार होगा, सर्वसाधारण के हित की किस तरह की धारा प्रस्तुत होकर उन्हें शीघ्र बहुत ज्ञान के समुद्र से ले चलकर मिलाएगी, साथ-साथ जनता को इस रीति के ग्रहण में किसी तरह का संकोच न होगा, बल्कि इससे लोगों में स्फूर्ति फैलेगी और परस्पर सम्बद्ध होने की सहृदयता दूर-दूर के भिन्न गाँवों और वर्गों के लोगों को बाँधेगी ।'[1] मुक्ति के लिए यह सहृदयता का बंधन ज़रूरी है । तभी शिक्षा हर वर्ग के मनुष्य को पूर्णता तक पहुँचा सकती है और मनुष्य सापेक्ष होकर दूसरे मनुष्य का मूल्य समझ सकता है ।

'प्रभावती' उपन्यास में मुक्ति का संघर्ष यही जन-संघर्ष बन जाता है, जहाँ सिपाही, किसान, धोबी, नर्तकी सब वर्गों के लोग मिलकर अन्याय के विरुद्ध लड़ने वाली शक्तियों का (फिर ही वे खुद भी सामंत, सेनापति या राजा क्यों न हों) साथ देते हैं । ये सेनापति-सरदार भी विलास और वैभव का सामंती जीवन जीने के बजाय उन्हीं की तरह का जीवन जीते हैं । प्रभावती के लिए 'घोड़े की पीठ ही वासस्थल है, पुराना मंदिर, जीर्ण-प्रासाद या खुला प्रान्तर कुछ क्षण के लिए शयन-भूमि । खाना, पीना, रहना, प्रायः घोड़े की पीठ पर ।' रामसिंह बिगुनिया धोबी बनकर उन्हीं की टोली में रहता है और वैसे ही कपड़े के नीचे पंजों के बल बैठकर बाएँ हाथ में रोटी और गुड़ रखकर, दाहिने से तोड़कर खाता है ।

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 317 -'प्रभावती' उपन्यास ।

इसी तरह यमुना राजकुमारी होने पर भी राजा के बजाय एक वीर सेनापति से प्रेम-विवाह करती है और अपने भाई के विरुद्ध उठ खड़ी होती है । प्रेम पक्ष पर किए जाने वाले अन्याय के ज़रिए ही वह सर्वसाधारण के शोषण को भी पहचानती है और उन्हें साथ लेकर भाई का प्रतिरोध करती है । वह प्रभावती के यहाँ दासी के रूप में रहती है । निराला यहाँ दासी रानी की सीमाओं को तोड़ते हैं । यमुना प्रभावती की सखी भी है और उसका आदर्श भी । ''मैं तुम्हारी दासी थी, फिर भी तुम्हारे मन में मेरा ही आदर्श था – मैं ही वहाँ आराध्या बनकर रही, यह कम प्राप्ति नहीं ; और देखो कि इस तरह जीवन का रहस्य जीवन में किस तरह रहता है । जिसे लोग नहीं मानते, उसे ही लोग मानते हैं । जो दासी है, वही देवी है ।''[1]

कहना न होगा कि निराला मुक्ति संग्राम की तत्कालीन स्थिति को समझते हैं – उसकी दुर्बलताओं को भी, असंगतियों को भी । आंदोलन की भविष्य की दिशा क्या हो, इस पर भी उनकी अपनी राय है । वह यह, कि किसान की भागीदारी के बिना, उसकी मुक्ति के बिना देश की मुक्ति एकांगी है । उनके उपन्यासों में किसान के संघर्ष का यह पक्ष – अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध का पक्ष – बहुत मुखर है ।

(3) पूंजीवादी स्वार्थ-समर

बंधनों की कारा टूटती तो है, लेकिन साथ-साथ 'व्यक्ति' को भी तोड़ती है । 'राम की शक्तिपूजा' के राम की तरह व्यक्ति बार-बार हारता है, टूटता है, लेकिन उसका एक मन कभी नहीं थकता । यह आत्म-विश्लेषण का क्षण है, जब वह तमाम दुर्बलताओं को पहचान करता है । अपनी भी समाज की भी । इस प्रक्रिया में निराला एक तरफ पूंजीवादी स्वार्थ-समर में फँसे व्यक्ति

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 285 –'प्रभावती' उपन्यास ।

की कमज़ोरियों को पकड़ते हैं और दूसरी तरफ सत्ता में गठजोड़ के समीकरण को भी, जहां अंग्रेजों को मध्यवर्गीय नौकरशाही और जमींदारों का बिन मांगे सहयोग मिलता है ।

निराला समझते हैं कि यह स्वार्थ का समय है, जहां ठगने और ठगा जाने की आदत लोगों की नस-नस में भर गई है । महाजन, जमींदार, वकील, धर्म, समाज और भाग्यों से ठगा जाना लोगों का स्वभाव बन गया है और उनके अपने दिल में भी मतलब गांठने का जंग लग गया है । यही कारण है कि शोभा को जमींदार के यहां बेचने वाले महादेव की इन्सानियत एक बारगी उसे धिक्कारती है, लेकिन दूसरी ही तरफ संसार का स्वार्थचक्र उसे फिर से लपेट लेता है । 'उसे तरक्की करनी है, दुनिया इसी तरह उत्थान के चरम सोपान पर पहुंची है, वह गरीब है, इसीलिए अमीरों के जूतुवे चाटता है । उसके भी बच्चे हैं – उन्हें भी आदमी करना है, लड़कियों की शादी में तीन-तीन चार-चार और पांच-पांच हजार का सवाल हल करना है, इतना धर्म का रास्ता देखने पर वह संसार की मंजिल कैसे तय करेगा ।'[1]

मानव-मूल्य अभी भी कहीं-कहीं जिंदा है । किसान ही दूसरे के दुःख-सुख को बांटता है । लेकिन यह किसान अपने झूठे संस्कारों और स्वार्थों की क्षुद्र सीमा में फंसकर जमींदार के शोषण का अस्त्र भी बनता है । जमींदार के बहकावे में आकर, उससे डरकर या अपने स्वार्थ की खातिर वह अपने ही किसान भाई का गला भी काटता है । 'अलका' उपन्यास में बुधुआ की शिकायत लखू ही जमींदार से करता है और उसे पिटवाता है । 'निरुपमा' में पंचायत और समाज के कर्णधार तिवारी, पाठक, पंडित और वाजपेयी ही धर्म की रक्षा के उद्देश्य से कुमार की पैतृक संपत्ति को बेदखल करने में

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 139 'अलका' उपन्यास

जमींदार का साथ देते हैं । वे कुमार की माँ को जाति-बाहर कर देते हैं, कुएँ से पानी तक नहीं लेने देते, तो इसलिए कि कुमार विलायत जाने से तो भ्रष्ट हो ही गया है, जूते पालिश कर ब्राह्मण समाज के कुल गौरव को कलंकित कर रहा है ।

लेकिन ब्राह्मण की यह 'लोक मर्यादा' तब गायब हो जाती है, जब जमींदार के यहाँ ब्रह्म-भोज का सवाल उठता है । जमींदार की बेटी निरुपमा का विवाह भी एक विलायत से लौटे आदमी के साथ हो रहा है, लेकिन यहाँ धर्म की गुहार लगाने वाला ब्राह्मण वर्ग कई तर्कों से अपने को दोषमुक्त कर लेता है, मसलन 'मालिक हमारे गाँव के राजा हैं, राजा में भगवान का अंश रहता है, राजा का धन, उनके घर पर भी ग्रहण करने पर ब्राह्मण को दोष न लगेगा ।'[1] उपन्यास के अंत में निरुपमा के साथ कुमार का विवाह भी वे स्वीकार कर लेते हैं, जमींदार का हुक्का-पानी बंद नहीं करते, क्योंकि राजा से भला कौन बैर करता है । धर्म की रक्षा का सवाल तभी तक है, जब तक उनकी स्वार्थरक्षा चलती रहे, क्या जमींदार का विरोध करके वे कहाँ जाएँगे । 'हमारा इनका जितना व्यवहार है, वह न तोड़ना चाहिए, क्योंकि हमारा इनका सदा संबंध-व्यवहार रहेगा । ये जिमींदारी है, हम रियाया ।'[2]

मिलीभगत सिर्फ धर्म और जमींदार की नहीं, जमींदार और अँग्रेजी हुकूमत की भी है । 'अलका' के जमींदार मुरलीधर बाबू अवध के सबसे नामी ताल्लुकेदार हैं । कभी उनके दीपक में इतना तेल न था कि रात के

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 396, 'निरुपमा' उपन्यास

1- वही, पृ0 401, 'निरुपमा' उपन्यास

उजलि में भोजन करते, किंतु उनके पितामह ने अंग्रेज सरकार की तरफदारी करके यह विशाल संपत्ति प्राप्त कर ली । 'जब से मुरलीधर पैतृक सिंहासन पर अपने नाम की मुरली धारण कर बैठे, बराबर सनातन प्रथा के अनुसार सरकारी अफसरों की सोहबती छेड़ते जा रहे हैं ।'[1] 'अप्सरा' के जमींदार कुंवर साहब की अंग्रेज हैमिल्टन साहब से काफी मजबूत दोस्ती है, क्योंकि समान धर्म वालों की मैत्री संबंध में बंधना स्वाभाविक नियम है । निराला लिखते भी हैं कि 'दोनों एक ही घाट पानी पीने वाले थे, कई बार पी भी चुके थे, इससे हृदय भेद-भावरहित हो गया था ।'[2] ये चरित्र में किसी भी तवायफ से श्रेष्ठ नहीं, जो पैसे के लिए अपनी मां-जन्मभूमि को भी बेचने को तैयार है । 'पर फिर भी समाज इनका है, इसलिए ये अपराधी नहीं । नीचता से ओतप्रोत ऐसी वृत्तियां लिए हुए भी ये समाज के प्रतिष्ठित, सम्मान्य, विद्वान और बुद्धिमान मनुष्य हैं ।'[3]

निराला मानते हैं कि राजनीति स्वार्थ की ही राजनीति है ।स्वार्थ-पथ पर ही जिंदगी में कुछ भी हासिल किया जा सकता है – धन भी, शक्ति भी । 'शक्ति में छोटा होकर बड़े से लड़ना राजनीति नहीं – किसी प्रकार का विरोध नहीं । बड़े की हर बात में गीत की ताल पर बजते बाजे की तरह, साथ रहना चाहिए, तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है । उसकी बात में ताल या बेताल बात है, इसका पैसला बाजा नहीं कर सकता ।'[4]

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 141 , 'अलका' उपन्यास
2- वही, पृ0 89, 'अप्सरा' उपन्यास
3- वही, पृ0 90, 'अप्सरा' उपन्यास
4- वही, पृ0 143, 'अलका' उपन्यास

इस पूंजीवादी स्वार्थ-समर में शिक्षा का अर्थ भी इंसानियत की सीख नहीं, अर्थ-प्राप्ति होकर रह गया है। जमींदार मुरलीधर का सेक्रेट्री मोहन लाल पहले शिक्षक था। शिक्षक की हैसियत से मंत्र और मंत्रणा देते हुए वह शिष्य मुरलीधर के बहुत नजदीक आ गया तो उसका मतलब लक्ष्मी ही से सामीप्य और सायुज्य प्राप्त करना था। मुरलीधर को तो वह पहले ही दिन से काठ का उल्लू समझता आ रहा था। शिक्षक ने उसे 'पहले छुरी, चम्मच, काँटा पकड़ाकर साहबी ठाठ से भोजन कराना सिखाया। फिर धीरे-धीरे स्वास्थ्य के नाम पर शराब का नुस्खा रखा। फिर छिप-छिपाकर सरकारी अफसरों के साथ भोजन करने को प्रोत्साहन। फिर बगीचे में बाकायदा पंचम-कार-साधन और देशी विलायती अफसरों को निमंत्रण।'[1]

'अप्सरा' में भी सर्वेश्वरी कनक में सब तरफ से ज्ञान का थोड़ा-थोड़ा प्रकाश भर देना चाहती है, तो इसीलिए कि अपने व्यवसाय में वृद्धि हो और जमींदार लोगों को आसानी से लूटा जा सके। हिंदी के अध्यापक उसे पढ़ाते हुए अपनी अर्थप्राप्ति की कलुषित कामना पर पश्चाताप करते हैं। कुशाग्र-बुद्धि, छात्रा के भविष्य का पंकिल चित्र खींचते हुए मन ही मन सोचते हैं, इसकी पढ़ाई उसर वर्षा है — तलवार में ज्ञान, नागिन का दूध पीना। पर नौकरी छोड़ने की चिंता मात्र से ही व्याकुल हो उठते हैं।

निराला के लिए ऐसी शिक्षा बेमतलब है। पढ़-लिख कर लोग ज्यादा गिर जाते हैं, जब बुद्धि को बुरे स्वार्थ की तरफ फेरते हैं। उस नौकरशाह मध्यवर्ग से निराला को बहुत चिढ़ है, जिसकी नस-नस में अंग्रेजी गुलामी है। 'अप्सरा' में राजकुमार की आँखों से वह देखते हैं, 'उन वकीलों, बैरिस्टरों और कर्मचारियों को, जिनके चेहरे पर, झूठ, फरेब, जाल, दगाबाजी,

---

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 277, 'प्रभावती' उपन्यास

कठहुज्जती, दंभ, दास्य और तोताचश्मी — सिनेमा के बदलते हुए दृश्यों की तरह – आ-जा रहे थे, और जिनके पर्दे में छिपे हुए वे सुख, वैभव और शांति की सांस ले रहे थे । वहां के अधिकांश लोगों की दृष्टि निस्तेज, सूरत बेरमन और स्वर कर्कश था ।'[1]

शिक्षा का वास्तविक अर्थ समझे बगैर आधुनिकता का खोल ओढ़कर बैठने वाले बुद्धिजीवी वर्ग की संस्कृति की, उनकी अँग्रेज़ियत की, निराला ने खूब हंसी उड़ाई है, फिर चाहे वह 'अलका' के तेजबाबू की 'कुन्स इंगलिश' हो या 'निरुपमा' के यामिनी बाबू का बंगला 'कल्चर' ।

निराला जानते हैं कि आधुनिकता के दावे करने वाले मध्यवर्ग के 'कल्चर' का मतलब भी इस पूंजीवादी स्वार्थ समर में अर्थ-प्राप्ति से ही जुड़कर रह गया है । इसी के चलते लंदन से डी० लिट्० करके लौटे कुमार को योग्यता रहने पर भी नौकरी नहीं मिलती, क्योंकि उसकी 'पूंछ में बालों का मोटा गुच्छा नहीं' । नौकरी मिलती है यामिनी बाबू को, प्रोफेसर बनर्जी, चटर्जी, मुकर्जी जिनके अपने आदमी हैं और जो यह मानकर चलते हैं कि 'भारत वर्ष में बंगालियों से बढ़कर कल्चर अपर प्रोविन्स के लोगों में नहीं । . . . अभी बंगालियों का मुकाबला हिन्दुस्तानी नहीं कर सकते । एक हिन्दुस्तानी जितना पढ़ कर समझता है, एक बंगाली उससे ज़्यादा सिर्फ देखकर ।'[2]

इस तरह का बुद्धिजीवी मध्यवर्ग लाख दावे करने पर भी समानता नहीं चाहता । वह ज़्यादा से ज़्यादा 'जातिपांति तोड़कमंडल' बना सकता है या 'उदारतावाद' में अपने अहंभाव को पुष्ट कर सकता है । 'निरुपमा' के

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 42, 'अप्सरा' उपन्यास

2- वही, पृ0 360, 'निरुपमा' उपन्यास

यामिनी बाबू ऐसे ही पात्र हैं । उनकी प्रतिक्रिया यही है —''यह कुछ पढ़ा लिखा होगा ; अगर चमार है तो समझना चाहिए, इसे जगह नहीं दी ऊँचे वर्ग वालों ने, इसलिए कलम छोड़कर अपना पेशा हथियार किया है । इसे पैसा देना चाहिए । अगर चमार नहीं भी, तो भी ; क्योंकि इसने एक आदर्श सामने रखा ।''[1]

इस तरह निराला ने शिक्षित मध्यवर्ग के उदारतावाद, प्रतीयतावाद, भाई-भतीजावाद, स्वार्थ समर्थन को तो वास्तविक मुक्ति के संघर्ष में बाधक माना ही है, सत्ता और अर्थ के लिए धर्म, शिक्षा और हुकूमत की मिलीभगत की भी पड़ताल की है ।

(4) समाज और मानवता के सपने और मोहभंग

निराला के इन उपन्यासों में समाज और मानवता के जो सपने देखे गए हैं, आदर्श सामने रखे गए हैं, वे काल्पनिक इच्छापूर्ति के स्वप्न-भर बनकर रह जाते हैं या वास्तविकता की पड़ताल करते हैं, यह प्रश्न आलोचकों के लिए विवाद का विषय रहा है । इसी से जुड़ा है मध्यवर्गीय चेतना के कारण समस्याओं के बेजान और असंगत हल खोजने का प्रश्न ।

इन सवालों पर सोचने से पहले ज़रूरी है यह सोचना कि हम वर्ग चेतना का क्या अर्थ लेते हैं । ई० पी० थामसन ने स्पष्ट किया है कि 'वर्ग का मतलब 'संरचना' या 'श्रेणी' नहीं है बल्कि वह एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जो मानव-संबंधों में घटती है । तब, जब कुछ व्यक्ति एक जैसे

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 360, 'निरुपमा' उपन्यास

अनुभवों के कारण अपने हितों की पहचान करने लगते हैं । ये अनुभव ही परंपराओं, मूल्यों, विचारों आदि से जुड़कर चेतना बनाते हैं । इस चेतना को वास्तविक मनुष्यों के वास्तविक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है ।'[1]

इन उपन्यासों को देखें, तो 'अप्सरा' उपन्यास में जो मध्यवर्गीय द्वन्द्व सामने आता है, वह है ऐश्वर्य और सुख-समृद्धि के दिवास्वप्नों और देश के प्रति कुछ कर्तव्यों का द्वन्द्व । यदि तत्कालीन मुक्ति-संग्राम में मध्य-वर्गीय युवक की हिस्सेदारी देखें, तो हम पाएंगे कि सुविधा-भोग का आकर्षण और सर्वस्व-त्याग की प्रतिज्ञा इन दो जीवन पक्षों के बीच अनिर्णय की स्थिति उस युवक की वास्तविक स्थिति थी, जो अपने प्रति ईमानदार था । वह सचमुच देश के संग्राम में अपना सहयोग देना चाहता था । क्रांति का स्वप्न उसे वस्तुतः आकृष्ट करता था और वह उसमें हिस्सा लेना चाहता था, लेकिन उसे प्रेम की विलासिता या सुख-वैभव से जोड़ना और इस तरह उसे क्रांतिपथ से विचलित करने वाला मान लेना उसका मध्यवर्गीय भ्रम ही था ।

इसीलिए निराला ने उसके समानांतर चंदन का चरित्र रखा । उन्होंने राजकुमार को 'वसंत की शीतल हवा में सुगन्धित पुष्पों के प्रसन्न कौतुक-हास्य के भीतर के कोयलों, पपीहों तथा अन्यान्य वन्य विहंगों के स्वागत-गीत से मुखर डालों की छाया से हो कर गुजरने वाला देवलोक का यात्री' कहा और चन्दन को 'ग्रीष्म के तपे हुए मार्ग का पथिक, सम्पत्ति वालों की

---

1. E. P. Thompson: 'The making of the English Working Class', Preface, page 9-10, 1963.

" Class conciousness is the way in which experiences are handled in cultural terms: embodied in traditions, value systems, ideas and institutional forms."

क्रूर हास्य-कुंचित दृष्टि में फटा निस्सम्मान भिक्षुक, गली-गली की ठोकरें खाता हुआ, मारा-मारा फिरने वाला, रसलेश रहित कंकाल'[1] कहा ।

राजकुमार के चरित्र की कमज़ोरियों और असंगतियों के प्रति निराला खुद भी सचेत रहे हैं । वे लिखते हैं —"राजकुमार के हृदय में लज्जा, अनिच्छा, घृणा, प्रेम, उत्सुकता, कई विरोध गुण थे, जिनका कारण बहुत कुछ उसकी प्रकृति थी और थोड़ा-सा उसका पूर्वसंस्कार और भ्रम ।"[2] यही कारण है कि कनक को लेकर उसकी मानसिक प्रतिक्रिया हर क्षण बाद बदलती है । इडेन गार्डेन में उसे गोरे के हाथ से बचाने पर अगर वह उसे संभ्रांत महिला के रूप में लेता है तो स्टेज की नायिका-रूप में उसे देखकर उसके प्रति अश्रद्धा, अविश्वास तथा घृणा का शिकार होता है । कनक जब उसकी जेल से मुक्ति का उपाय करती है तो पहले तो उसकी आंखों में श्रद्धा आती है, लेकिन दूसरे ही क्षण, उपकृत द्वारा मुक्ति पाने की कल्पना का, एक साधारण बाज़ारू स्त्री की कृपा से मुक्त होने की लज्जा से भर उठता है । उसका यह मध्यवर्गीय दोहरापन, और उसके झूठे मूल्य बराबर देखे जा सकते हैं और मध्यवर्गीय दिवास्वप्न भी । वह देश की मुक्ति के लिए प्रतिश्रुत तो है, लेकिन अंत तक वह कुछ सार्थक कर नहीं पाता, कनक को वेश्या-पुत्री होने के बावजूद पत्नी रूप में ग्रहण करने के अलावा । वैसे भी ऐश्वर्य और सुख सुविधा का मोह वह कभी छोड़ नहीं पाता । अंत में उसे कनक के साथ इन सब चीज़ों की भी प्राप्ति होती है । चंदन का पारिवारिक घर भी देखें, तो वह मध्यवर्गीय घर है — नौकर, दासी, ड्राइवर, सुख-आराम के सभी साधन वाला घर और निराला ने कहीं इस सब पर व्यंग्य

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 56 , 'अप्सरा' उपन्यास

2- वही, पृ0 77, 'अप्सरा' उपन्यास

नहीं किया है । हाँ, चंदन का इन सब चीज़ों से कोई मोह है, ऐसा देखने में नहीं आता ।

पूरे उपन्यास में निराला का आदर्श बराबर चंदन रहा है । आदर्श नहीं भी, तो निराला उसके प्रति बराबर आकृष्ट रहते हैं, चाहे वह उसका 'दुस्साहस' हो या विनोदप्रियता । वस्तुतः वही कनक का मुक्तिदाता भी है, जो उसे जमींदार के यहाँ से भी छुड़ाकर लाता है और राजकुमार को जीवन समर में प्रेम का महत्त्व भी समझाता है । उपन्यास के अंत में भी चंदन ही राजकुमार वर्मा के रूप में एक साल की जेल जाता है । कथा का अंत निराला ने नहीं किया है । उन्होंने कथा-सूत्र को उस जगह ले जाकर छोड़ दिया है कि पाठक ही यह सोचे कि राजकुमार ने सपनों की 'परी' से विवाह करने के बाद सुख-वैभव का जीवन जिया या चंदन के जेल जाने के बाद उसने फिर से आत्मप्रवंचना पर खुद को धिक्कारा और संघर्ष के वास्तविक पथ पर अग्रसर हुआ ।

उधर 'अलका' उपन्यास में चंदन जैसा चरित्र ही कभी किसानों के संगठन में, तो कभी कुलियों के संगठन में, मुक्ति-संघर्ष में का रास्ता चुनता है । यहाँ उसका नाम पहले विजय है बाद में प्रभाकर । वह निराला के लिए उसी युवा शक्ति का प्रतिनिधि है, जो देश को हर तरह की पराधीनता के पाश से मुक्ति दिला सकती है । निराला के इस विश्वास की साक्षी बनती है चीन के राष्ट्र-विप्लव में युवा-शक्ति की भूमिका और वह कह उठते हैं — 'जिस देश में युवक जानदार नहीं, जिस देश में भावी उत्तराधिकार के लिए युवक गण प्रयत्नशील नहीं, वह देश गुलामी की बेड़ियों को काट नहीं सकता।'[1]

1- निराला रचनावली, भाग-6, पृ0 253

यह वह युवा नहीं है, जो संयुक्त प्रांतीय युवक कान्फ्रेंसों में भाग लेकर अपने कर्तव्यों की इतिश्री कर लेता है । युवा-शक्ति जगर ऐसी ही रहेगी तो स्वराज्य बहुत दूर है । ऐसे मध्यवर्गीय युवकों पर निराला व्यंग्य करते हैं —"हमारी प्रांत के युवक कितने कार्यकुशल, कितने बातूनी, कैसे आदर्शवादी और कैसे बगुलाभगत हैं । जिन यूनिवर्सिटी के युवकों के शरीर-स्पर्श का सौभाग्य बेचारे खद्दर के मोटे वस्त्रों को कभी नहीं मिला, उनको सादी और स्वदेशी की वकालत करते देखकर ; जो युवक सदा हिन्दू-मुस्लिम समस्या को लेकर झगड़ा करते हैं, उन्हें ही धार्मिक वितंडवाद का विरोध करते देखकर, उन महाशयों को, जो सदा ओरियन्टल औज़ी की टांग तोड़ा करते हैं, हिन्दोस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाने, कान्फ्रेंस की कार्यवाही उसी में करने की अपील का औज़ी में धुआंधार स्पीच देते देखकर . . . हमें बड़ा हर्ष हुआ । हमें पूरा निश्चय हो गया, कि अब स्वराज्य दो चार कदम ही रह गया है ।"[1]

निराला का आदर्श युवाशक्ति का यह रूप नहीं, बल्कि किसानों और मजदूरों के साथ अपनापन बनाकर, उन्हें साथ लेकर मुक्तिपथ पर बढ़ने वाला युवक है । यह युवक क्रांति का सिर्फ सपना नहीं देखता, उसे साकार करने का प्रयास भी करता है । क्रांति का यह स्वप्न बहुत सुखकर है । निराला लिखते हैं —"जो जो चित्र वह खींच रहा था, सदियों के अंधकार से मुंदे सबके हृदय का प्रफुल्ल पंकज प्रकाश पा जैसे एकएक दल खोलता जा रहा है, ऐसा आनंद लोगों को मिला । अपने भविष्य की इस सुखकर कल्पना में बीहून और उसके भाइयों को शराब के नशे से ज़्यादा रंगीन, एक न-जाने हुए न-जाने कैसा स्वर्ग सुखकर कवियों में भुला रखने वाला मालूम हुआ ।"[2]

1- निराला रचनावली, भाग-6, पृ0 237

2- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 165 , 'अलका' उपन्यास

ऐसा ही समानता और मानवता का स्वप्न 'निरुपमा' के कुमार का भी है, जो ज़माने की शिकस्तों के आगे हार नहीं मानता और न ही अन्याय के सम्मुख घुटने टेकता है। विद्या-अर्जन के बाद भी अगर वह जूता पालिश करने में शर्म महसूस नहीं करता, तो इसलिए कि 'उसका विद्या-अर्जन वाला उद्देश्य सफल है, अर्थ-प्राप्ति वाला यदि इस रूप से, विद्या वालों को दिखावे के तौर पर हो रहा है, तो हो, वह कटाक्ष नहीं करता।'[1] उसे प्रकाशकों का अन्याय मंज़ूर नहीं, कि वह उनके लिए औपासना का अनुवाद करे, कुल चार रुपए पारिश्रमिक में, भले ही उसे जूते पालिश का पेट क्यों न भरना पड़े।

लेकिन, मुक्तिपथ के इस संघर्ष में 'व्यक्ति' का अहंभाव बराबर उसके साथ रहता है। कुमार यदि मोची का काम अपनाता है, तो उसमें उसका अहं भी तुष्ट होता है। उसने मानवता का जो पथ चुना है, उसमें वह अपने व्यक्तित्व को, अपने हृदय की निष्कलुषता बहुत प्यार करता है। 'मनुष्य होकर, पश्चात् विद्वान बनकर, इसी की रक्षा के लिए वह तत्पर रहा था। हृदय का निष्कलुष तत्व जीवन के पथ पर पथिक-जीव के विचलित-स्खलित होने पर मलिनत्व प्राप्त होता, क्रमशः उसे पतित कर देता है, यह वह जानता था। . . . पहले यह प्यार शक्ति के रूप में था जब उसे मनुष्योचित शिक्षा के अर्जन की धुन थी — इसीलिए समाज और घरवालों का विरोध उसने किया था, अपनी शिक्षा के समस्त सोपान तय करने के लिए, अब वह अपनी प्रज्ञा में स्थित है, उसकी पुष्टि में लगा हुआ, इसीलिए जो ठोकरें मिल रही हैं, उन्हें दूसरों की कमज़ोरी समझकर वह समर्थ होकर संसार के मुकाबले के लिए तैयार हो रहा है।'[2]

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 361, 'निरुपमा' उपन्यास

2- वही, पृ० 357, 'निरुपमा' उपन्यास

कहना न होगा, इस संघर्ष में व्यक्ति का 'मैं' बहुत प्रबल है, इतना प्रबल, कि मोची का काम करते हुए भी वह अपनी मध्यवर्गीय सीमाएं तोड़कर दूसरे मोचियों से कोई अपनापन कायम नहीं कर पाता, बल्कि उनकी मजदूरी (दो पैसे से एक आने) की जगह एक-एक पैसा मजदूरी लेकर उनकी 'कामरेड शिप' भी तोड़ता है। उसकी मध्यवर्गीय सीमाएं वहां भी स्पष्ट हैं, जब वह चमार का पेशा करके भी अपनी अलग पहचान बनाए रखना चाहता है, अपनी इज्जत करवाना चाहता है। चमार का पेशा करके जैसे वह कोई आदर्श सामने रख रहा है, वह उसके जीवन का अंग नहीं है। 'लखनऊ में कुमार अब तक काफी प्रसिद्ध हो चुका है। हैट-कोट पहनकर रास्ते पर बैठकर जूता-पालिश करने वाला मामूली आदमी नहीं, फाटि से अंगरेजी बोलता है, कोई-कोई कहते हैं विलायत भी गया हुआ है, . . .' यह देश को शिक्षा देने के लिए ऐसा करता है कि न कोई बड़ा है न छोटा, यह चर्चा धारा-धार है। चमार, जिस रास्ते से वह निकलता है, चौकन्ने होकर देखते हैं। चमार चार पैसे लेते थे, वह एक पैसा लेता है। बाज़ार तब से गिर गया है। लोग चमारों को हेय दृष्टि से देखते हैं। बाकी में कुमार की बड़ी कद्र है।'[1]

'अलका' उपन्यास में भी किसान-मजदूर के साथ संघर्ष करने के बावजूद विजय या प्रभाकर की उनसे एक खास हद तक दूरी बराबर रहती है और वह अपना अहं-भाव छोड़ नहीं पाता है। किसानों को संघर्ष-पथ पर वही लेकर जा रहा है, या कुलियों की हड़ताल वही करा रहा है, यह भावना वहां मौजूद है, इसीलिए संघर्ष पथ पर पराजय के क्षणों में वह अकेला

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 406, 'निरुपमा' उपन्यास

पड़ जाता है और गाववाले किसान उस पर 'राजद्रोह' का अभियोग लगने पर उसके खिलाफ़ गवाही देते हैं । यही उसका मोहभंग होता है और जेल से बाहर आने पर वह दोबारा किसानों के बीच न जाकर मज़दूरों का रास्ता पकड़ लेता है ।

निराला 'व्यक्तिवाद' की यह असंगति खुद भी पहचानते हैं कि अगर उसका सक्रिय पक्ष है, तो विनाशकारी रूप भी । 'प्रभावती' में छोटे-छोटे सरदारों के 'व्यक्तिवाद' पर वे टिप्पणी करते हैं । उस व्यक्तिवाद का अर्थ है – हर व्यक्ति का सिर देकर या लेकर सरदार होने का प्रयत्न करना ।

ऐसी ही असंगति नारी मुक्ति के आदर्शों के संदर्भ में देखी जा सकती है । निराला 'अप्सरा' उपन्यास में कनक को वेश्यापुत्री होने पर गृह-लक्ष्मी बनाकर जहाँ समाज की रूढ़ि तोड़ते हैं, वहीं उसका कुल-लांछन भी हटाने का प्रयास करते हैं, जब वह उसे क्षत्रिय क्या कहते हैं और उसमें उसके मातृपक्ष का ज़रा भी संकेत न होने की बात करते हैं । ऐसे ही अंत में वह कनक को 'चर्खा' तथा 'सती' लिखी अंगूठी भी दिला देते हैं ।

इसी तरह 'निरुपमा' में निरुपमा द्वारा आदर्श जमींदार-प्रथा संबंध स्थापित करने की बात है और प्रभावती में सामंत के द्वारा संगठित होने की, जो कहीं-न-कहीं यह आभास देती है कि वह वर्ग-वैषम्य के स्थान पर 'वर्ग-मैत्री' में विश्वास करते हैं, जबकि निराला ने सदैव इस सच को पहचाना है कि ज़मींदार और किसान के हित एक से हो नहीं सकते और उन्होंने सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की ज़रूरत महसूस की है ।

इस तरह हम कह सकते हैं कि निराला इन उपन्यासों में क्रांति और मानवता के स्वप्न ज़रूर देखते हैं, लेकिन वे दिवास्वप्न भर नहीं । उन्हें साकार करने के लिए उसमें अपने स्तर पर ईमानदार प्रयास भी है ।

यह प्रयास सामूहिक संघर्ष से मिलकर भी कहीं-कहीं अकेला प्रयास होकर रह गया है । 'व्यक्ति' का अर्थ उस दौर की विचारधारा का महत्वपूर्ण हिस्सा भी था । यह व्यक्ति 'दुखी निज भाई' की पीड़ा देखकर दुखी तो होता था, लेकिन उसका समाधान करने का उत्तरदायी सिर्फ 'अपने' को ही समझता था । चाहे वह 'पिंजुक' कविता में अकेले वीर अभिमन्यु की तरह व्यवस्था के चक्र तोड़ने का संकल्प हो, या इन उपन्यासों में अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध में उठ खड़ा होना, उसमें समूह की पीड़ा पर द्रवित होकर 'मैं' का संघर्ष ही प्रबल रहा है ।

चतुर्थ अध्याय

'छोड़कर बंधनमय छंदों की छोटी राह...'

(निराला के उपन्यासों का शिल्प और स्वच्छंदतावाद)

(1) कला – मुक्ति की साधना

निराला ने 'परिमल' की भूमिका में लिखा था कि 'जहाँ मुक्ति रहती है, वहाँ बंधन नहीं रहते – न मनुष्यों में, न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही बंधनों से छुटकारा पाना है।' निराला ने जहाँ जीवन में इस मुक्ति की तलाश की, वहीं कला में भी 'क्षुद्र भावों की लघु सीमा' और 'बंधनमय छंदों की छोटी राह' छोड़कर कल्पना का स्वच्छंद और असीम आकाश खोजा। ऐसा आकाश, जिसमें 'व्यक्ति' की मानवीय संभावनाओं का विस्तार-प्रसार तो हो, लेकिन जो अर्थप्राप्ति की कामना से क्लुषित न हो।

अप्सरा में कनक और ऐश्वरी के बीच एक संवाद है, जो न केवल कला की सामंती धारणाओं का विरोध करता है, बल्कि आधुनिक पूंजीवादी-उपयोगितावादी मान्यताओं को भी तोड़ता है। संवाद यूं है –

"हाँ, अम्मा। मैं कला को कला की दृष्टि से देखती हूं। क्या उससे अर्थ-प्राप्ति करना उसके महत्व को घटा देना नहीं।"

"ठीक है। पर यह एक प्रकार का समझौता है। अर्थ वाले अर्थ देते हैं, और कला के जानकार उसका आनंद। संसार में एक दूसरे से ऐसा ही संबंध है।"

...."तो भी मुझे कला को एक सीमा में परिणत रखना अच्छा लगता है। ज्यादा विस्तार से वह क्लुषित हो जाती है, जैसे बहाव का पानी। उसमें गंदगी डाल कर भी लोग उसे पवित्र मानते हैं....।"[1]

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 27, 'अप्सरा' उपन्यास

'कला को कला की दृष्टि से देखना' कहकर निराला कोई शुद्ध कला-वादी मूल्यों को प्रश्रय नहीं दे रहे हैं, बल्कि इसके पीछे उनकी उस उपयोगितावाद से चिढ़ है, जहां कला अर्थप्राप्ति का माध्यम भर बनकर रह जाती है। वे रीतिवाद की रूढ़ियों को तोड़ते हैं, तो इसलिए नहीं कि उन्हें रस, ध्वनि, अलंकार आदि से अरुचि है, बल्कि इसलिए वह इन्हें कला की पूर्णता से जोड़कर देखते हैं, चमत्कार या प्रदर्शन से नहीं। उनके लिए कला का अभिप्राय सिर्फ भावोच्छ्वास या दार्शनिक विचार या शब्द चयन या शैली के प्रयोग नहीं, बल्कि वह रचना है, जो युद्ध कौशल की तरह है और जो साहित्यकार के सामाजिक अनुभवों, संघर्षों से अलग नहीं। इस रचना को उद्देश्यों के आवरण ओढ़ने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि फिर वह 'प्रोपेगंडा' बनकर रह जाती है। निराला साहित्य को पूर्वाग्रहों के सीमित दायरों में नहीं रखते क्योंकि उसके सामने मनुष्य मात्र के कल्याण का लक्ष्य है। 'साहित्य दायरों से कटकर ही साहित्य है। साहित्य वह है, जो साथ है, वह है जो संसार की सबसे बड़ी चीज है। साहित्य लोक से –सीमा से – प्रांत से – देश से – विश्व से ऊँचा उठा हुआ है।'[1]

कहना न होगा, कि निराला साहित्य को राजनीति, धर्म, समाज से काटकर नहीं देख रहे हैं, बल्कि वे उन्हें साहित्य का अभिन्न अंग मानते हुए प्रचार या उद्देश्य के लिए साहित्य के इस्तेमाल का विरोध कर रहे हैं। प्रांतीय साहित्य सम्मेलन (फैजाबाद) में पुरुषोत्तमदास टंडन से निराला की बहस में यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है, जब वे कहते हैं –" मैं दावे के साथ कहता हूं, इस प्रांत में राजनीति ने जो काम किया है, उससे अधिक काम साहित्य ने किया है। . . . यहां के साहित्यिक आठ मर्तबा एटलांटिक

1- निराला रचनावली, भाग-6, पृ0 206, 'प्रबंध प्रतिमा' में संकलित निबंध –'प्रांतीय साहित्य सम्मेलन, फैजाबाद'।

या सोलह मर्तबा पेसिफिक क्रास नहीं कर चुके, न एयरप्लेन पर चढ़कर अभी पृथ्वी का आकाश पार किया है, उनमें शायद ही किसी ने यूरोप में पूर्ण शिक्षा पायी है, लेकिन यथार्थ-ज्ञान, अध्ययन, कार्य और तपस्या से जहाँ तक ताल्लुक है, यहाँ के साहित्यिक राजनीति से आगे हैं – विशेषतः इसलिए, कि वे 'फालोअर' नहीं, 'ओरिजनल' हैं ।"[1]

निराला ने कला में मौलिकता को बहुत महत्त्व दिया है । अगर पुरानी कही चीज़ों को दोहराया भर, कुछ नया नहीं दिया, तो उसे कहने की क्या सार्थकता ? यह नयापन सिर्फ शिल्प और शैली में प्रयोग की खातिर लाया जाने वाला नयापन नहीं है, कलाकार की इस वृत्ति का परिचायक है कि वह जिंदगी से कुछ न कुछ नया, सार्थक सीखने में विश्वास करता है । निराला के उपन्यासों में कलाकार के व्यक्तित्व और उसकी कला का यह विकास और भी स्पष्ट है, जहाँ वह स्वप्नलोक से यथार्थलोक की ओर अग्रसर हुआ है ।

निराला ने अगर 'अप्सरा' में सर्वेश्वरी के कला के सामंती मूल्यों को चुनौती दी है, तो आधुनिक युग में कला के बाज़ारी मूल्यों को भी । कला के 'जानकारों', और मूल्यांकन कर्ताओं के खोखलेपन पर टिप्पणी करने में भी निराला चूकते नहीं । वे जानते हैं कि इस युग में कला के 'कद्रदान' या तो थियेटर गेट के सामने पान खाते, सिगरेट पीते, हँसी मज़ाक करते, बड़ी-बड़ी तोंद वाले सेठ हैं या सुनहली कमानी का चश्मा लगाए कालेज के 'बुद्धिजीवी' छोकरे । 'इन सब बाहरी दिखलावों के अंदर सबके मन की आँखें मित्रों के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थीं, उनके चकित दर्शन, चंचल चलन को देखकर चरितार्थ होना चाहती थीं।'[2] धन-कुबेरों, संवादपत्रों के सर्कों, वकीलों, डाक्टरों, प्रोफेसरों और विद्यार्थियों के

1- निराला रचनावली, भाग-6, पृ0 204, 'प्रबंध प्रतिमा' में संकलित निबंध 'प्रांतीय साहित्य सम्मेलन, फैजाबाद' ।

2- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 22, 'अप्सरा' उपन्यास ।

बौद्ध कला की पतनोन्मुखता पर निराला को बहुत खेद रहा है । इसीलिए उन्होंने इस तरह की जनता की रुचि और कला के बाज़ार से किसी भी तरह का समझौता करने से इंकार किया है ।

निराला की विशेषता यह है कि उन्होंने अगर परंपरा की रूढ़िगत शास्त्रीयता से मुक्त अभिव्यक्ति के नए तरीके खोजे हैं, तो इन नए तरीकों के शास्त्रीय हो जाने पर उनसे भी मुक्ति चाही है । कला चाहे वह कथा का ढाँचा हो, चरित्र हो, भाषा हो या उपमान, कला की मुक्ति की साधना निराला की रचनाओं में देखी जा सकती है । निराला कहीं भी उपन्यास के बँधे-बँधाए ढाँचे में नहीं बँधे हैं ।

(2) कथातंत्र बनाम व्यूह रचना

कुछ आलोचकों ने निराला को सफल कवि, लेकिन असफल उपन्यासकार कहा है । कारण कई बताये गए हैं । उदाहरणार्थ – उनके उपन्यास 'जीवन के विश्वसनीय चित्र' नहीं लगते । उनकी रचनाशीलता के 'कल्पित संसार में जो जीवन प्रवाहित होता दिखता है, उसमें सहजता, अबाधता और स्वाभाविकता नहीं . . . . । क्या कथानक, क्या पात्र-चित्रण और क्या भाषा, सर्वत्र ऐसी कृत्रिमता दिखाई पड़ती है, जिसके चलते निराला के उपन्यास जीवन के वास्तविक प्रतिनिधि नहीं बन पाते । . . . उपन्यासों का मूल ढाँचा संयोगाधृत घटनाओं के स्तंभों पर आधारित है . . इस प्रकार की असाधारण और अविश्वसनीय घटनाओं के जंगल को अल्पबुद्धि के पाठक ही स्वीकार कर सकते हैं ।'[1] गोपाल राय ने इन घटनाओं को अतिनाटकीय और 'बच्चों का तमाशा' कहते हुए जो उदाहरण दिया है, वह यह कि 'अप्सरा' उपन्यास के आरंभ में एक अँग्रेज़ पुलिस

1- पद्म सिंह शर्मा, कमलेश (सं0) –'निराला' में गोपाल राय का निबंध – 'निराला के उपन्यास', पृ0 172-73-74, संस्करण, 1969

सुपरिन्टेण्डेण्ट का किसी सुसंस्कृत युवती (कनक) को छेड़ना नितांत अक्षिक्षनीय है । उनका मानना है कि अंग्रेज़ स्त्रियों के प्रति सम्मान-प्रदर्शन में विश्वविख्यात हैं और निराला की अंग्रेज़ों से घृणा इस कला- विषयक चूक का कारण है ।

लेकिन अंग्रेज़ जाति ने भारतीय युवतियों को सम्मान की दृष्टि से देखा होगा, यह कल्पना ही अत्यंत हास्यास्पद है, वह भी उस स्थिति में, जब पराधीन भारतीयों को उसने तरह-तरह से अपमानित किया है । इन उपन्यासों में घटनाओं और सयोगों की अधिकता है, इस बात से तो इंकार नहीं किया जा सकता, लेकिन जहां तक उनके अक्षिक्षनीय होने की बात है, तो इस बारे में कोई अंतिम निर्णय नहीं हो सकता कि कौन-सी घटना सच हो सकती है और कौन-सी नहीं । एक ऐसी घटना, जिसकी एक आदमी कल्पना भी न कर सकता हो, दूसरे के साथ घट सकती है, बशर्ते वह कोई अतिमानवीय कार्य ही न हो । रोमांस और नावेल का संबंध बताते हुए भी इस विषय की विस्तृत चर्चा की जा चुकी है ।[1] उपन्यास के आरंभिक दौर के लेखक का ध्यान असाधारण घटनाओं और स्वाभाविक चरित्रों के संतुलन पर रहता था । कथा का मज़ा तभी था, जब असाधारण घटनाएं साधारण लोगों के साथ घटें । निराला के यहां भी कथाकार की यह प्रवृत्ति प्रबल है । घटनाओं की दिलचस्पी उनके यहां बराबर बनी रहती है । संयोग वहां कथा की गति बढ़ाते भी हैं । रोमांस तथा कथा की मौखिक परंपरा में जो खास कथा-रूढ़ियां और शिल्प-युक्तियां होती थीं, निराला उनका भी प्रयोग करते हैं ।

'अप्सरा' में कनक को अंग्रेज़ के चंगुल से बचाने वाला राजकुमार संयोग से उसे स्टेज पर मिलता है, जहां वे दोनों दुष्यंत-शकुंतला की भूमिका अदा करते हैं, वहीं कनक मन से उससे विवाह कर लेती है । अंग्रेज के प्रतिशोध में राजकुमार

1- देखिए इसी शोध-प्रबंध का द्वितीय अध्याय, पृ० 27 से पृ० 31 तक ।

को जेल जाना पड़ता है, तो उसकी मुक्ति की साधना में 'चिट्ठी पुराण' चलता है । राजकुमार द्वारा अफ़ीज़ की जेब में रखी गई चिट्ठी कनक निकालती है, तो संयोग से उसके हाथ वह चिट्ठी लगती है, जिससे अफ़ीज़ पर रिश्वत का आरोप बनता है और इसी आधार पर राजकुमार जेल से रिहा होता है । इसी तरह 'अलका' उपन्यास में प्रभाकर की शीला का अनदेखा बिछुड़ा पति विजय निकलता है । 'निरुपमा' में कुमार, निरुपमा और यामिनी बाबू का प्रेम-त्रिकोण भी संयोगों पर आधृत है, जहां कुमार की पैतृक संपत्ति की बेदखली की जिम्मेदार निकलती है - निरुपमा की जमींदारी और उसकी नौकरी छुड़वाने वाले - यामिनी बाबू । इस प्रेम त्रिकोण में चौथा कोण कोई मिस दूबे निकलती है, जो यामिनी बाबू से गर्भवती है । कमल द्वारा इन दो जोड़ों का चुपके-चुपके विवाह काफी आकस्मिक लगता है । 'प्रभावती' में तो घटनाओं की आकस्मिकता और संयोगों की अधिकता इस हद तक है कि उनमें पात्रों के परस्पर संबंध उलझ जाते हैं और कथा की एकसूत्रता रह नहीं पाती । इस तरह की घटनाएं अगर रोचकता बढ़ाती हैं, जो कभी कथा-प्रवाह में बाधक होती भी दिखती हैं ।

इन घटनाओं और संयोगों की तह में जाएं, तो एक बात उभरती है । वह यह, कि कहीं-न-कहीं इनमें निराला का यह विश्वास छिपा है कि मुक्ति का रास्ता इतना सीधा नहीं है । उसके लिए एक पूरी व्यूह-रचना की जरूरत है । मुक्ति सीधे-सीधे मांगने से नहीं मिल जाती, उसके लिए योजनाबद्ध तरीके से लड़ना पड़ता है । मुक्ति के उपाय खोजने पड़ते हैं - पूरी चतुराई और चालाकी के साथ । विरोधी की एक-एक चाल को काटना पड़ता है । रास्ते के अवरोधों - चट्टानों से सिर टकराना मूर्खता है, अपनी राह खुद निकालनी होती है । निराला लिखते भी हैं --''यदि उस राह पर कोई पहाड़ टूट कर गिर गया हो और वह रुक गई हो, तो समझदार चलने वाला रास्ता काटकर

ही गाड़ी निकालेगा । यदि कोई दूसरा रास्ता न हो, तो तैयार करके निकालेगा। पर पहाड़ उठाकर गाड़ी निकालने की मूर्खता कोई नहीं कर सकता । हमारे समाज की राह पर इस समय अड़चनों का पहाड़ टूट पड़ा है, और हम लोग न तो दूसरे ही रास्ते से गाड़ी निकाल रहे हैं, और न स्वयं रास्ता तैयार कर रहे हैं, बल्कि बेहोश हुए बराबर उसी पहाड़ से टकरा रहे हैं और हमारी अक्लमंदी पर दूसरे समाज के लोग हारिबाजियाँ और मज़ाक कर रहे हैं ।"[1]

निराला ने मुक्तिपथ के पूरे संघर्ष को रस्साकशी के रूप में देखा है— "रस्साकशी में अंततः एक पक्ष दूसरे को खींच लेता है, पर जब तक एक पक्ष की शक्ति समाप्त नहीं हो जाती, खींचने वाले कितने हैरान होते हैं ? देश की राजनीति की अभी ऐसी दशा नहीं कि बराबर का जोड़ हो ।"[2] इसलिए जरूरी है कि शतरंज के पासे इसी तरह फेंके जाएँ कि अपना किला मजबूत हो । मुक्ति संग्राम की तत्कालीन स्थिति में जो उलझन और अनिश्चितता थी, उसे देखते हुए निराला हर कदम सावधानी से रखने को कहते हैं, वर्ना हार होगी ; नेता लोग आंदोलन को जिस समझौते और सुधार की दिशा की तरफ ले जा रहे हैं, उसमें एक सीमा के बाद जनता सहयोग न करेगी ।

देश की मुक्ति का यह संघर्ष-पथ जीवन मुक्ति के साथ इतना जुड़ गया है, कि कभी लगता है कि निराला प्रेमकथा को 'फैंटेसी' की तरह ले रहे हैं, ठीक उसी तरह जैसे 'कामायनी' में मनु और श्रद्धा की कथा को मुक्तिबोध ने एक ऐसी 'फैंटेसी' के रूप में देखा था, जिसमें प्रसाद ने अपनी जीवन समस्या– व्यक्तिवाद को प्रकट किया । मुक्तिबोध का मानना था कि 'फैंटेसी' में मन की

1- निराला रचनावली, भाग-6, पृ० 305, 'सुधा' में निराला की संपादकीय टिप्पणी (जून, 1930) ।

2- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 154, 'अलका' उपन्यास

निगूढ़ वृत्तियों का, जीवन-समस्याओं का इच्छित विश्वासों और इच्छित जीवन-स्थितियों का प्रक्षेप होता है।'[1] देश की मुक्ति को प्रेमकथा की फैंटेसी में देखना निराला का आग्रह रहा है या नहीं, यह प्रश्न तो विवादास्पद ही होगा, लेकिन इसमें शक नहीं कि प्रेमकथा के उतार-चढ़ाव, टूटन-पराजय, आशा-आकांक्षा - सभी में तत्कालीन मुक्ति-संग्राम के चरित्र को पहचाना जा सकता है। उदाहरण के लिए, 'अलका' में अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए जमींदार के चंगुल से भाग निकलने में शोभा की मन: स्थिति में तत्कालीन आंदोलन की शंका और लगन को भी देखा जा सकता है —' 'शंका, भय, उद्वेग और दु:खों को उसकी एक अलक्ष्य शक्ति लड़कर पार जाना चाहती है। मुक्ति की प्रबल इच्छा सामने के विघ्नों को पीछे के पतन के भय से झेल रही है। कभी रास्ता नहीं चली। आज एक ही साथ जीवन का सबसे जटिल, दुर्गम मार्ग तय करना पड़ा। कटी घास की पैनी नोकों से तलवे छलनी हो रहे हैं, खून के फव्वारे छूट रहे हैं, पर रास्ता पार करना है, याद आते ही कितना बल मिल रहा है।"[2]

इसी तरह 'अप्सरा' में अपने प्रेमपथ की मुक्ति का कोई आभास न पाकर जब कनक फिर से अपने अप्सरा जीवन से समझौता कर लेती है और जमींदार की महफिल में गाना स्वीकार कर लेती है, उस दिशाहीनता के विषाद को भी स्वाधीनता संग्राम के आंदोलन वापिस लेने के विषाद और दिशाभ्रम के समानांतर देखा जा सकता है। 'प्रभावती' की अतीत कथा तो और भी 'फैंटेसी' लगती है, जहाँ निराला ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से वर्तमान की समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं। दिशाहीनता के उस दौर में इतिहास का भावात्मक और आदर्श रूप ही प्रेरणा और मार्गदर्शक का कार्य कर सकता था। औपनिवेशिक

1- मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4, पृ0 216, 'कामायनी : एक पुनर्विचार'।

2- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 146, 'अलका' उपन्यास।

दास्ता के विरुद्ध संघर्ष और मानव-व्यक्तित्व की बंधनों से मुक्ति को अतीत के कथा-प्रसंगों में अभिव्यक्त करना भारतेन्दु-युग में ही शुरू हो गया था । चेलिशेव लिखते हैं कि -'यथार्थ के बिंबात्मक पौराणीकरण की पद्धति नए भारतीय साहित्य के विरचन में स्वाभाविक सोपान बन गई थी ।'[1]

दूसरी तरफ घटनाओं के जाल और व्यूह रचना में व्यक्ति का संघर्ष अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध का भी प्रतीक-सा बन जाता है । 'अलका' में अलका उर्फ शोभा का जमींदार मुरलीधर बाबू को मार डालना भी अन्याय को चुपचाप न सहना दिखाता है । अलका स्नेहलता से कहती है -''जो ऐसे-ऐसे पापों को हाथ बढ़ाते संकोच नहीं करता, पिता, किसी भी समझदार को चाहिए कि उसके हाथ उसी समय काट ले ।''[2]

यह अहिंसा का पथ नहीं है । स्नेहलता उसे समझाती है कि दूसरे पर प्रहार करने का अधिकार उसे नहीं, इससे उसके भीतर का सत्य-हार ही टूटेगा । अलका इसे मान लेती है, लेकिन जब आत्मरक्षा का सवाल सामने आ जाता है, जब उसके सामने दो ही विकल्प रह जाते हैं कि या वह जमींदार के हाथ अपना अस्तित्व सौंप या उसे मार कर मुक्त हो जाए, तो वह दूसरा पथ ही चुनती है। चेलिशेव का मानना है कि 'अलका गुस्से या उत्तेजना के क्षण में मुरलीधर की हत्या नहीं करती, बल्कि प्रतिशोध के लिए नैतिक रूप से तैयार होकर ही ऐसा करती है । निराला उस स्थिति में हिंसा को उचित ठहराते हैं, जब कोई व्यक्ति अन्य उपाय करके हार जाता है और कोई परिणाम प्राप्त करने में असमर्थ रहता है।'[3]

इसी तरह विजय को सीधे-सीधे ट्यूशन के पैसे देने से सेठ इंकार कर देता है, लेकिन जब वह हक मांगने के बजाए छीनने को बढ़ता है, तो सेठ

1- चेलिशेव - 'सूर्यकांत त्रिपाठी निराला', पृ० 55

2- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 218, 'अलका' उपन्यास

3- चेलिशेव - 'सूर्यकांत त्रिपाठी निराला', पृ० 126

चुपचाप कैसे निकाल देता है । विजय सोचता है — ऐसा है भारत, जहाँ क्रोध और बल ले तीन महीने की पढ़ाई से अधिक अर्थ मिलता है और सौजन्य और शिष्टता की दिन पर हाथ जाता है । युग की माँग आजादी को छीनना है, माँगने से काम नहीं चलेगा — ऐसा निराला का आग्रह लगता है ।

कहना न होगा, कि इन उपन्यासों का घटना-जाल संयोगों और चमत्कारों के कारण अस्वाभाविक या अविश्वसनीय नहीं हो जाता, न ही उसमें जीवन का स्वाभाविक प्रवाह अवरुद्ध होता है, उलटे वह तत्कालीन परिवेश की पेचीदगियों और मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का ही परिचायक है ।

निराला का कथा सुनाने का ढंग भी विशिष्ट है, जो उनके स्वच्छंदतावाद का स्वरूप निर्धारित करता है । एक कथा कई तरह से सुनाई जा सकती है — आत्मकथा के ढाँचे में प्रथम पुरुष बनकर अथवा पूरे घटनाक्रम से तटस्थ रहकर या 'चंद हसीनों के खतूत' के ढाँचे में । निराला ने अपने परवर्ती उपन्यासों और कहानियों में तो अक्सर आत्म-कथात्मक रूप अपनाया है, कहीं-कहीं तो उनके खुद भोगे हुए यथार्थ और अनुभवों को इस तरह दोहराया गया है कि वे संस्मरण की तरह लगते हैं, लेकिन जहाँ तक इन प्रारंभिक उपन्यासों का प्रश्न है, निराला ने अक्सर तृतीय पुरुष बनकर ही पूरी कथा सुनाई है ।

कथा सुनाने का प्रचलित ढंग है — घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन (अर्थात् पहले यह हुआ, फिर यह हुआ) । लेकिन इन उपन्यासों में घटनाओं का यह क्रम कहीं नहीं है । कभी एक साथ कई घटनाएँ अलग-अलग घटती हैं, जिनका संबंध पाठक को खुद खोजना पड़ता है, कभी 'पहली' घटना के बाद कथाकार 'तीसरी' घटना पर आ जाता है और उन दोनों के बीच के कथासूत्र को पाठक की कल्पना और सूझ पर छोड़ देता है । उसके बाद 'पूर्व-दीप्ति' (फ्लैश बैक) का सहारा लेकर वह दूसरी घटना पर आ जाता है । इससे कथा की रोचकता और प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती है, घटनाओं का क्रमवार सिलसिला न होने के बावजूद कथा-सूत्र नहीं टूटता ।

इस प्रसंग में 'अलका' उपन्यास को देखा जा सकता है । उसके पहले अध्याय में शीला के मां-बाप की मृत्यु के बाद उसके जमींदार के चंगुल में फंस जाने और राधा द्वारा मुक्ति की योजना बनाने का उल्लेख है । अध्याय के अंत में इस योजना के कारगर होने का संकेत भर है, भागने की पूरी प्रक्रिया, अंतर्द्वन्द्व, क्रियाकलाप अध्याय तीन में जाकर मालूम होते हैं । इस बीच अध्याय दो में 'पूर्वदीप्ति' के माध्यम से महादेव बाबू और जमींदार मुरलीधर का संवाद दिखाकर शीला को बेचने की बात बताई गई है ।

इसी तरह सभी उपन्यासों में घटनाओं का क्रम टूटता है, जो कि कुतूहल और रोचकता की सृष्टि करता है । लेकिन 'प्रभावती' उपन्यास में क्रम के टूटने का सिलसिला उस हद तक पहुंच जाता है, जहां जाकर कथा-सूत्र उलझने लगता है ।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इन उपन्यासों में निराला घटनाओं द्वारा रहस्य और द्वन्द्व की सृष्टि तो करते हैं, लेकिन कथा कहने के प्रचलित ढंग के अनुसार न चलकर, रहस्यों को धीरे-धीरे खोलने और पाठक की जिज्ञासाओं का परिशमन करने के बजाय, पाठक के सामने एकएक रहस्य खोल देते हैं । मसलन, 'अलका' में विजय की चर्चा उसके जेल जाने के बाद खत्म हो जाती है और प्रभाकर नामक एक नया पात्र आ जाता है । विजय ही प्रभाकर है, ऐसा आभास पूरे उपन्यास में धीरे-धीरे विकसित नहीं होता, बल्कि कथा के अंत में एक चमत्कार के रूप में जैसे यह रहस्य खुलता है । यही वजह है कि उपन्यास का अंत स्वाभाविक होने के स्थान पर अप्रत्याशित और काल्पनिक होकर रह जाता है ।

कथा-तंत्र में इस तरह के कुतूहल और चमत्कार की सृष्टि करने के पीछे संभवतः निराला का आग्रह पाठक को यह बताना भी है, कि कोई भी यथार्थबोध और जीवनानुभवों का निष्कर्ष अंतिम नहीं होता । न ही वह हमेशा पूर्वनिश्चित और पूर्वनिर्धारित ही होता है । यथार्थ की खोज अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है, जिसमें कितनी ही संभावनाएं छुपी रहती हैं ।

(3) व्यक्ति-चरित्र : जीवन संघर्ष के विविध रूप

घटना जाल के बावजूद अगर निराला के उपन्यासों में अस्वाभाविकता नहीं, तो इसलिए कि उनके चरित्रों में जीवन का सहज प्रवाह है। यह बात अलग है कि गोपाल राय ने उन्हें भी अविश्वसनीय कहा है। उनका मानना है —"निराला के चरित्र हमारे वास्तविक संसार के व्यक्तियों की तरह आचरण नहीं करते।...'निरुपमा' का नायक कुमार डी0लिट्0 करने पर भी जूता पालिश करता है। 'अप्सरा' में अंग्रेज पुलिस सुपरिन्टेण्डेण्ट हेमिल्टन कनक पर आशिक होकर शराब पीकर धोती पहनकर बंदर की तरह नाचता है।... कनक और राजकुमार समतल या चपटे पात्र हैं, इनका विकास नहीं होता।... कनक ऊँची शिक्षा पाकर भी विजय नगर जाती है। अंततः वह जबर्दस्ती कुलवधू बना दी जाती है। कुमार केवल रेलगाड़ी वाली घटना में अपने चरित्र की तेजस्विता का परिचय देता है, अन्यत्र तो वह ढुलमुल, दृढ़-निश्चय रहित, अकर्मण्य और जल्द आवेश में आने वाले व्यक्ति के रूप में ही दिखाई देता है। चरित्र-चित्रण में मनोविज्ञान के बहुत कम दर्शन होते हैं। उनमें अंतः-संघर्ष का प्रायः अभाव है।... उपन्यासकार ने प्रारंभ में जो व्यक्तित्व उन्हें प्रदान कर दिया, उसे वे अंत तक ढोते हैं।"[1]

लेकिन निराला के इन उपन्यासों को देखें, तो ये बातें तर्कहीन लगती हैं। निराला जीवन के बारे में, युग-समस्याओं के बारे में जो कुछ सोचते हैं, उनके निष्कर्ष वह उपन्यासों में रखते हैं — विभिन्न घटनाओं और चरित्रों के माध्यम से। कुमार से डी0लिट्0 होने पर भी जूता पालिश कराने में वर्गभेद और जातिभेद को तो अपनी तरह से तोड़ा ही गया है, वह व्यक्ति के पूंजीवादी स्वार्थ-समाज में अपने अस्तित्व को जीवित रखने का भी सूचक है। 'अप्सरा' में हेमिल्टन के

1- पद्मसिंह शर्मा, कमलेश (सं0)—'निराला', पृ0 175-76, गोपाल राय का निबंध —'निराला के उपन्यास'।

आचरण को कोई सीधी-सपाट घटना के रूप में लेने के बजाए उसे पूरे मुक्ति-संग्राम के उस परिप्रेक्ष्य में देखना होगा, जहाँ मुक्ति के लिए राजनीति के दाँव-पेच जानना, सामने वाले आदमी को मूर्ख बनाना जरूरी है। जहाँ तक व्यक्तित्व के स्थिर, चपटे, समतल होने और उनका विकास न होने की बात है, निराला के सभी पात्रों में विकास देखा जा सकता है। जीवन समर में पराजय के क्षणों में उनके पात्र अपनी दुर्बलताओं को पहचानकर तमाम संभावनाएँ खोजते हैं। निराला ने जीवन के अन्तर्द्वन्द्वों में, संघर्ष का पथ पहचानने के क्रम में पात्रों का विकास ही दिखाया है। चाहे वह कनक हो, निरुपमा या राजकुमार — ये सभी पात्र जीवन से बराबर नया सीखते हैं।

कनक का वेश्या-पुत्री होने के बावजूद कुलवधू का जीवन चुनना और अपने चित्त की चंचलता से मुक्त होकर जीवन मर्म को गंभीरता से पहचानना उसके विकास का ही परिचायक है। तारा से परिचय उसके जीवन का वह मोड़ है, जब निष्कृति के मार्ग पर आकर उसके मानसिक भावों में परिवर्तन होता है। निराला लिखते हैं —"उसके चित्त की तमाम वृत्तियाँ एक-दूसरे ही प्रवाह में तेजी से बह रही थी और इस धारा में पहले की तमाम प्रखरता मिटती जा रही थी। केवल एक शांत, शीतल अनुभूति चित्त की स्थिति को दृढ़तर कर रही थी। अंगों की चपलता उस प्रवाह से, तट पर तपस्या करती हुई सी, निश्चल हो रही थी।"[1]

'अलका' में स्नेहशंकर के घर में शोभा को नया जीवन मिलता है, तो वहाँ वह प्रियजनों के वियोग के दुःख को झेलना सीखती है और सावित्री के संसर्ग में अपने व्यक्तित्व का विकास करती है, नारी मुक्ति के लिए प्रयास भी। कनक भी कुलवधू बनने के बावजूद अपने जीवन की आज़ादी नहीं खोती। वह

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 97, 'अप्सरा' उपन्यास।

आधुनिक नारी की तरह कहती है – "मैं कोई घूँघट काढ़ने वाली सुहागिन तो हूँ नहीं । कुछ पैदायशी स्वतंत्र हक मैं अपने साथ रखूँगी, नहीं तो कुछ दिक्कत पड़ सकती है ।"[1]

'निरुपमा' मुक्ति के लिए खुद से लड़ती है । वह एक तरफ अपने विवाह से संबंधित सामंती बंधनों, संस्कारों से बाहर निकलती है, दूसरी तरफ समाज के मर्म को भी पहचानती है । उसके अंतर्द्वन्द्व की पूरी प्रक्रिया उपन्यास में बराबर देखी जा सकती है :– "निरुपमा कुछ देर ससि तक रोके बैठी रही। सोचा, यह स्नेह का फंदा है । मन ही मन ऊपर उड़ती हुई, इस पाश को पार कर जाना चाहा, पर सब जगह इससे अपने को बँधी हुई देखा । कुमार को चाहती है, पर वह पहुँच से बाहर है । समर्थ मन बराबर पहुँच से बाहर की चीज लड़का भी लेना चाहता है, वह मानसिक समर करती है, पर अपनी संस्कृति से आप परास्त हो जाती है । मामा, भाई आदि के प्रति हुए स्नेह और संस्कारों के मायाजाल में बँधकर नहीं बढ़ पाती ।"[2]

वीणा के माध्यम से निराला जैसे विधवा जीवन की पूरी मनोव्यथा, प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वन्द्व, आकर्षण और समाज-भय के संघर्ष को खोलकर रख देते हैं । इन नियमों को अंततः तोड़कर अजित से विवाह करने का रास्ता अनेक अंतर्द्वन्द्वों से भरा हुआ है –"कैसे दो परस्पर विरोधी संग्राम वीणा के जीवन में छिड़े हैं । एक ओर तो मरुस्थल के पथिक का-सा चित्त सदैव व्याकुल है, दूसरी तरफ उसके जीवन की अदृश अप्सरा, अपनी सोलह कलाओं से विकसित, उसके हृदय के तारों को खींच-खींच का चढ़ा रही है ; ... यह ज्ञान नहीं, कि यह विधवा है – इसके उज्ज्वल वस्त्र पर काले छींटे पड़ेंगे । ... स्वामी जी को वह क्यों प्यार करती है, वह नहीं जानती ; वह प्यार करती है, किसी से

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 28, 'अप्सरा' उपन्यास ।

2- वही, पृ० 390, 'निरुपमा' उपन्यास ।

कह नहीं सकती ; प्यार न करो, ऐसा हो नहीं सकता ।"[1]

वस्तुतः, निराला के पात्रों में व्यक्ति-मन का यह अन्तर्द्वन्द्व उनके उपन्यासों की शक्ति भी है । व्यक्ति के चरित्र, उसके मन, उसके जीवन-संघर्ष में ही पूरा जीवन-समर अभिव्यक्त होता है । यह व्यक्ति-चरित्र आधुनिक मानव का चरित्र है । वह प्राचीन भारतीय नीति-कथाओं का अलौकिक-शक्ति सम्पन्न, उच्च नैतिक गुणों से भरपूर व्यक्ति या सामंती दौर का धीरोदात्त, आदर्श, उच्च-कुल में जन्मा व्यक्ति-चरित्र नहीं है, वह स्वच्छंदतावादी प्रकृति के अनुरूप अकार मध्यवर्गीय जीवन-चरित्र है, जिससे उपन्यास का मध्यवर्गीय पाठक भी आसानी से साधारणीकरण कर पाता है । प्रेमचंद का भी मानना था कि यह ज़रूरी नहीं कि हमारी चरित्रनायक ऊँची श्रेणी के हों, क्योंकि हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मानवमात्र में व्यापक है और लेखक का काम केवल उन तारों पर चोट करना है, जिसकी झंकार से पाठक के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव पड़े । निराला के उपन्यासों में भी इस मध्यवर्गीय नायक का चरित्र-सभी विचारधारात्मक असंगतियों के साथ उभरता है । चाहे वह राजकुमार हो या विजय या कुमार — तत्कालीन मध्यवर्गीय युवक की जीवन-आकांक्षा, स्वप्न और मोहभंग उनमें देखा जा सकता है । राजकुमार आधुनिक युवक है पर जब भी कनक के कुल-लांछन की बात उठती है, वह उसके चरित्र पर संदेह करता है। निराला राजकुमार के मध्यवर्गीय भ्रमों को ही नहीं, उसके मनोविज्ञान को भी परखते हैं । महफ़िल में कनक का गाना सुनने के प्रसंग में राजकुमार के हृदय में घृणा और प्रेम की लड़ाई चलती है । एक तरफ वह उसका गाना खुद भी सुनना चाहता है, दूसरी तरफ अपनी इस इच्छा को यह कहकर नकारता भी है कि वह अपनी मर्जी से नहीं, तारा के कहने पर महफ़िल में जा रहा है ।

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 201, 'अलका' उपन्यास ।

लेकिन इससे ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिए कि निराला अपने नायक के नैतिक मूल्यों को ही उचित ठहराना चाहते हैं । उनके वैयक्तिक जीवन का कुंठित आदर्शवाद और मोहभंग ही उनके नायक में भी क्यों न हो, लेकिन कहीं भी उसके मूल्यों को सही ठहराने का प्रयास नहीं है, उल्टे वहां नायक के चरित्र की दुर्बलताओं की साफ-साफ स्वीकृति ही है । नायक की आकांक्षा-पराजय एक समस्या के रूप में सामने रखी गई है, किसी नैतिक आदर्श के स्पष्टीकरण के रूप में नहीं । पहले तो, निराला उस उपयोगितावादी युग में बौद्धिक और आध्यात्मिक द्वन्द्वों में मनुष्य के यथार्थ को खोज रहे थे, दूसरे उन अन्तर्द्वन्द्वों की पूरी खोजबीन कर वह पूरी समस्या को समझना चाह रहे थे और तीसरे, अपने नायक की निष्क्रियता के वह खुद भी आलोचक थे और आशा और कर्म के नए कारण खोज रहे थे ।

यह आशा और कर्म निराला को कई दूसरी जगहों पर मिलता है । उदाहरण के लिए - राधा में, जो कहारिन है और शीशा को ज़मींदार के चंगुल से मुक्ति की राह सुझाती है । इतना ही नहीं, वह ऐसे ज़मींदार के यहां काम तक करने को तैयार नहीं । वह अपने पति को समझाती है -"हम लोग मेहनती आदमी हैं, जहां मेहनत करेंगे, वहीं कमाएंगे, खाएंगे । वहां की नौकरी आज ही छोड़ दो ।"[1]

'अलका' के रेखांकन ऐसे ही चरित्र हैं, जो आशा और कर्म की प्रेरणा बनते हैं । उनके व्यक्तित्व का निराला रेखाचित्र-सा बना देते हैं-"पंडित रेखांकर सात-आठ गांव के मामूली ज़मींदार हैं । ऊंचे दरजे के शिक्षित । विदेशों का भ्रमण कर चुके हैं । ऊंची शिक्षा प्राप्त करने पर भी ऊंचे पदों की प्राप्ति चेष्टा से नहीं की । सरस्वती की सेवा में दत्तचित्त रहते हैं । उम्र पचास के उधर होगी, साठ के इधर । लंबे, पुष्ट, गौर, ऋषियों के अनुयायी, इसलिए

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 140, 'अलका' उपन्यास ।

ईश्वरप्रदत्त रोओंपर नाई का उस्तरा नहीं फिरता । सर के बाल, मूँछ, दाढ़ी, यथा संस्कार प्रतिभा और प्रौढ़ता के अनुरूप । सदा प्रसन्न आँखों से गंगा के जल कीसी निर्मल ज्योति निकलती हुई । .... लेखकार जी गाँवों के ज़मींदार की तरह नहीं, रियाया की तरह रहते हैं ।"[1]

'निरुपमा' में कमल में कहीं-कहीं निराला उस मुक्त नारी का रूप देखते हैं, जो अपने बारे में कोई भी निर्णय लेने में स्वतंत्र है । वह जानती है कि निरुपमा का विवाह उसके मनोनुकूल नहीं, वह कुमार को चाहती है, लेकिन अपने गौरव, प्रतिष्ठा और मर्यादा के कारण खुलकर कह नहीं सकती । इसलिए वह उसे समझाती है -''तुम्हारी संस्कृति की छाप, तुम पर गहरी होती जा रही है और इसलिए अपने यहाँ की पर्दा-प्रथा वाली देवियों की तरह तुम इस प्रसंग को पर्दे में रखना चाहती हो, पर यह अगर प्राणों पर पड़ता हुआ पर्दा है, तो निश्चय यह सदा के लिए पड़ा ही रह जाए गा ।"[2]

कुमार की माँ सावित्री देवी का चरित्र भी आशा का स्रोत है । वह पूरे गाँव के अन्याय का सामना करती है, हिम्मत हारे बिना । उसमें 'संसार की क्रूरता को सहनेवाली करुणा' है, कुमार और निरुपमा के मन को पहचान पाने की परख भी, क्योंकि 'माँ की दृष्टि में पुत्र का सांसारिक प्रसंग, सूक्ष्मतम कारणरूप में रहने पर भी, कार्यरूप से आ जाता है ।'

निराला को बाल मनोविज्ञान की भी बड़ी परख है। वह नीली और रामचंद्र के माध्यम से बच्चों के मनोजगत को तो सामने रखते ही हैं, यह भी दिखाते हैं कि 'बिना विशेषता और बिना व्यक्तित्व' के समझे जाने वाले बच्चे जीवन का मर्म कितना ज्यादा समझते हैं । नीली निरुपमा के संघर्ष की साक्षी है। उसे भले-बुरे की पहचान भी है । कुमार के जूते पालिश करने पर वह उसे श्रद्धा से देखती है, और पंडित का मुँह देखकर उसे श्रद्धा नहीं होती । लोग उसे

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 147-148, 'अलका' उपन्यास ।

2- वही, पृष्ठ 372 , 'निरुपमा' उपन्यास ।

बच्ची क्यों न समझे , अपने प्रति होने वाली अवज्ञा की उसे परवाह नहीं , क्योंकि उसने निश्चय कर लिया है कि 'ऊँचाई, शक्ति और विद्या जैसी कुछ ही बातों में वह दूसरी से छोटी है, जब वह उनकी ऊँचाई तक पहुँच जाएगी, तब वैसी हो जाएगी, यों दूसरी की तरह वह भी सब बातें समझ जाती है।'[1]

बचपन सबसे ज्यादा संवेदनशील तो होता ही है, दुनिया के गुप्त कार्य भी जितने इस उम्र में होते हैं, उतने किसी उम्र में नहीं। इस उम्र के कार्य में रोचकता तो होती ही है, करनेवालों और देखने वालों को भी आनंद मिलता है। नीली के प्रसंग पूरे उपन्यास को रोचक बनाने के लिए पर्याप्त हैं।

रामचंद्र की आँखों से तो निराला ने उस पूरी व्यवस्था के अन्याय को समझा है, जो बाल सुलभ चेतना को छीनकर उसे अचानक समझदार बना देता है और संसार की क्रूरताओं से परिचित करा देता है। इतनी छोटी उम्र में उसका मोहभंग होता है। ज़मीन से बेदखल और जाति-बाहर करने का गाँववालों का अमानुषिक बर्ताव उसके बालमन पर चोट करता है। 'जिन्हें वह भक्ति करता था, अपना समझता था, जिनके प्रति संसार के अन्य सभी लोगों से उसका अधिक आकर्षण था, जब वही संसार के सबसे बड़े शत्रुओं में बदल गए, तब बालक एकाएक कवाका रह गया। मनुष्य-मनुष्य के प्रति इतना बड़ा वैर कर सकता है, यह कभी उसकी कल्पना में न आया था। उसके लिए गाँव भर के द्वार बंद हैं। कोई उससे प्रीतिपूर्वक नहीं बोलता।'[2] ब्रह्मभोज के प्रसंग में जब उसे चमार कहकर गालियाँ दी जाती हैं, तो उसकी बाल-संवेदनशीलता उसे सह नहीं पाती। सब परिचित उसे अपरिचित लगते हैं। यह उस निर्दोष के लिए कितना बड़ा अपमान है, कोई नहीं समझता और हृदय की अव्यक्त पीड़ा सिसकियों में बाहर आती है। रोने के बाद जब उसका मन हल्का हो जाता है और वह आत्मविश्वासी स्वर से अन्याय का प्रतिरोध करता है।

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 363, 'निरुपमा' उपन्यास।
2- वही, पृ० 381, 'निरुपमा' उपन्यास।

इस तरह हम देखते हैं कि निराला के चरित्रों में तत्कालीन जीवन-संघर्ष के विविध स्तर देखे जा सकते हैं, पराजय और आशा के बीच झूलते व्यक्ति मन की संवेदनाओं की पहचान की जा सकती है । वे कल्पनालोक के प्राणी नहीं हैं, वास्तविक जीवन-समर में लड़ने-हारने और पुन: लड़ने वाले वास्तविक चरित्र हैं ।

(4) भाववादी भाषा-शिल्प

निराला के इन उपन्यासों को अक्सर भाववादी शिल्प के अन्तर्गत देखा जाता है । चाहे वह भाषा हो, बिम्बात्मक प्रतीकों की योजना, या यथार्थ को एक विशिष्ट रागात्मकता के चश्मे से देखने की प्रवृत्ति, इन उपन्यासों में छायावादी कविता की ही तरह का भाव-प्रकाशन, अमूर्तता और मूर्तविधान देखा जा सकता है । सवाल यह उठता है कि युग के जटिल वस्तुगत यथार्थ को व्यक्त करने का माध्यम इतना आत्मपरक कैसे हो जाता है ?

वस्तुत: आत्मपरकता और वस्तुपरकता का संबंध काफी जटिल है, जिसे मुक्तिबोध द्वारा प्रतिपादित रचना-प्रक्रिया के तीन क्षणों में समझा जा सकता है । मुक्तिबोध लिखते हैं —"कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण । दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैंटेसी अपनी आँखों के सामने खड़ी हो । तीसरा और अंतिम क्षण है, इस फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता ।"[1]

इस तरह कोई भी कलाकृति जीवन की पुनर्रचना होते हुए भी वास्तविक जीवन में जिए और भोगे गए अनुभव से कुछ न कुछ भिन्न हो जाती है । इस

1- मुक्तिबोध —'एक साहित्यिक की डायरी', पृ० 18, चतुर्थ संस्करण, 1976

अर्थ में भी, कि उसमें सिर्फ भोगा हुआ यथार्थ नहीं होता, तत्संबंधी संभावित यथार्थ की खोज भी होती है । इस संभावित यथार्थ की खोज लेखक कल्पना द्वारा करता है ।

स्पष्ट है, कि निराला द्वारा युग के जटिल वस्तुगत यथार्थ को महसूस करने पर भी वे जीवनानुभव उनकी संवेदनशीलता के कारण कहीं-न-कहीं आत्मपरक हो जाते हैं और 'कला के तीसरे क्षण' में कल्पना-बिंबों में जीवन की पुनर्रचना करते हैं । उनके भाववादी भाषा शिल्प की यही वजह है ।

इसी से जुड़ा है निराला का भाषा-दर्शन । उनका मानना था कि प्राचीन बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही, चाहे वह तुलसी हो, सूरदास, कबीर, शेक्सपीयर, शेली शेली या रवीन्द्रनाथ ठाकुर । निराला ने लिखा था —"बड़े-बड़े साहित्यिकों ने प्रकृति के अनुकूल ही भाषा लिखी है । कठिन भावों को व्यक्त करने में प्रायः भाषा भी कठिन हो गई है । जो मनुष्य जितना गहरा है, वह भाव और भाषा की उतनी ही गंभीरता तक पैठ सकता है, और पैठता है । साहित्य में भावों की उच्चता का ही विचार रखना चाहिए । भाषा भावों की अनुगामिनी है ।"[1] उनका मानना है कि 'गैर लोगों को अपने में मिलाने का तरीका भाषा को आसान करना नहीं, न मधुर करना, उसमें व्यापक भाव भरना और उसी के अनुसार चलना है ।'[2]

स्वच्छंदतावाद के दौर में लिखे गए इन उपन्यासों को निराला के इसी भाषा-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा । निराला की कोशिश यही रही है कि इन उपन्यासों में व्यापक भावों के अनुरूप भाषा भी हो । इसीलिए

1- निराला रचनावली, भाग-5, पृ० 364, 'प्रबंध-पद्म' में संकलित निबंध- 'साहित्य और भाषा' ।

2- वही, पृ० 365

उपन्यास में जहा कल्पनाप्रियता और भावुकता है, वहाँ भाषा की प्रकृति भी भाववादी अमूर्त चित्र देने की रहती है । मसलन, 'अप्सरा' उपन्यास में कनक को जब उसके यौवन का प्रथम स्वप्न – राजकुमार का सान्निध्य प्राप्त होता है, तो उसके भावोद्रेक, चित्त की चंचलता, विस्मय और अस्थिरता को व्यक्त करने के लिए निराला स्वप्नलोक की ही भाषा भी लिखते हैं —" मुक्त आकाश में उड़ती हुई रंगीन परी की विहगम्परी राजकुमार के मन की डाल पर बैठी थी ।... "[1] इसी तरह राजकुमार के स्वप्नलोक को ऐश्वर्य-वैभव के स्वप्न को निराला वैसी ही भाषा में अभिव्यक्ति देते हैं — ''वह सोचने लगा, यह सुख क्या व्यर्थ है ? यह प्रत्यक्ष ऐश्वर्य आकाश-पुष्प की तरह केवल काल्पनिक कहा जाएगा ? यदि इस जीवन की कान्ति हृदय के मधु और सुरभि के साथ वृन्त पर ही सूख गई, तो क्या फल ?"[2]

जहाँ भी निराला सौंदर्य, रूप-रस-गंध की अभिव्यक्ति में तल्लीन होते हैं, वहाँ भाषा का छायावादी संस्कृतनिष्ठ, कोमलकांत पदावली और लाक्षणिक अर्थ-वैचित्र्य वाला रूप ही सामने आता है, वैसा ही, जैसा 'जूही की कली' जैसी कविताओं में है । ऐसे स्थलों पर भाव-प्रकाशन की काव्यात्मकता देखी जा सकती है । उदाहरणार्थ - अलका के यौवन की बात करते हुए निराला लिखते हैं — ''प्रातः रश्मि-सी पृथ्वी की पलकें ज्योतिस्नान कराती हुई, मनुष्यों के परिचय के सूक्ष्मतम किरण तंतुओं से गूंथती हुई, जग के जीवों को एक ही ज्योतिर्मय हारका । शिशुक के देह की डाल जैसे पुष्पांशुक से ढक गई हो ।"[3]

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 49, 'अप्सरा' उपन्यास ।

2- वही, पृ0 49, 'अप्सरा' उपन्यास ।

3- वही, पृ0 176, 'अलका' उपन्यास ।

लेकिन कुछेक स्थलों पर भाव के विपरीत ऐसे भाववादी भाषा-प्रयोग खटकने भी लगते हैं, जैसे किसान बुधुआ की पिटाई होने पर उसकी पीड़ा का वर्णन । वहां निराला उसकी पीड़ा के मर्म को उभारने के बजाय तत्सम शब्दों के अतिशय प्रयोगों के कारण, भाषा पूरे प्रसंग को हास्यास्पद बना देती है । निराला लिखते हैं – "...जमींदार कृपानाथ पशुवत् बुधुआ की बुद्धि को प्रहार से पथ पर लाने लगे । क्षीण, दुर्बल, मनुष्याकार, वह चर्मास्थि-शेष प्रत्यक्ष दारिद्र्य कृपा-प्रार्थना की करुण दृष्टि उन्मीलित कर रह गया ।"[1]

लेकिन इन उपन्यासों में भाषा के केवल भाववादी कहे जाने वाले प्रयोग ही नहीं हैं । जहां भी निराला युग के जटिल यथार्थ को खोजते हैं, जीवन की व्याख्या करते हैं – संवादों और राजनीतिक मसलों पर बहस के उन क्षणों में भाषा के तदनुकूल प्रयोग भी देखे जा सकते हैं । वहां भाषा विचारों की गंभीरता और यथार्थ के विश्लेषण में पूरी तरह समर्थ है । जैसे, 'प्रभावती' उपन्यास में रामसिंह और वीरसिंह का संवाद, जीवन संग्राम में हारते व्यक्ति को किस से हिम्मत बंधाता है । रामसिंह कहता है –''पर अब मेरा जी ऊब गया है । मुझे इन राजों से घृणा हो गई है । व्यर्थ के लिए जान देना होगा ।" इसके साथ ही वीरसिंह उसे समझाता है –"गिरे दिन को सुधारने में कष्ट होता है । रामसिंह, बने दिन आप सुधरते जाते हैं । हताश न हो । हम एक साथ हंसेंगे, एक साथ रोएंगे । काम बिगड़ता जा रहा है, इसलिए छोड़ना ठीक नहीं, बनाने की ही चेष्टा करनी चाहिए । एक दिन शरीर भी क्षीण होता हुआ छूट जाएगा, इसलिए आत्महत्या ठीक नहीं ।"[2]

इसी तरह निराला जब किसानों की बातचीत से उनकी मनोभावनाओं को व्यक्त करते हैं तो उन्हीं की भाषा में । इस भाषा में ठेठ देहातीपन भी

1- निराला रचनावली, पृ0 162, 'अलका' उपन्यास ।

2- वही, पृ0 311, 'प्रभावती' उपन्यास ।

है, मुहावरों और लोकोक्तियों का लोकरंग भी, बोलचाल के शब्द और अंग्रेजी शब्दों के बिगड़े हुए रूप भी — ''बड़ी बातें न बघार . . . सरकार ने तोप के बल हिन्दुस्तान फतेह किया है, जबानी कैफियत से न छोड़ देगा, साले, कर देगा रपोट चोकीदार, तो चुतड़ की खाल निकाल ली जाएगी ; बकने दो इनको आर्य-वार्य, अभी शेर है, जिमीदार के सामने चूहे बन जाएंगे, नहीं तो चलेगा रूटर डिल्लीवाला ।"[1]

कहना न होगा, कि इन उपन्यासों में कल्पना और यथार्थ के अन्तर्विरोध की तरह भाषा में भी कल्पनाशील काव्यात्मक रूप और यथार्थवादी बोलचाल का रूप देखा जा सकता है । निराला में भाव-वैभव बहुत है । एक ही प्रसंग में निराला स्वप्नलोक से एकदम यथार्थलोक पर उतर आते हैं, यथार्थलोक से एकदम कल्पना-लोक में चले जाते हैं । वैसे ही भाषा भी बदलती जाती है । 'अलका' के प्रारंभ में जब निराला दूसरे विश्वयुद्ध और उसके बाद फैली महामारी की बात कर रहे हैं, तो उनकी भाषा में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भूमिका पर व्यंग्य भी है, देशवासियों की पीड़ा भी — ''एक परिवार के दस आदमियों में दसों के प्राण निकल गए । कहीं-कहीं घरों में ही लाशें सड़ती रहीं । . . . भारत के साठ लाख आदमी काम आए । इसी समय सरकारी कर्मचारियों ने घोषणा की, सरकार ने जंग फतह की है, आनंद मनाओ ; सब लोग अपने-अपने दरवाजों पर दिए जलाकर रखो ।. . ."[2]

लेकिन इसी प्रसंग में शोभा की माँ की बीमारी की पीड़ा बताने के पैराग्राफ बाद शोभा द्वारा विजय को खत लिखने का प्रसंग है, जिसमें मृत्यु की व्यावहारिकता प्रिय की सुखकर कल्पना के आगे धुंधली पड़ जाती है —'दुःख में भी अज्ञात कोई हृदय के निर्मल, शुभ्र आकाश में अपरिमित सुख, सौरभ भरने लगा, अज्ञात मुंदी हुई जैसे कोई कली इस अदिश मात्र से खुल गई. . .।"[3]

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 159, 'अलका' उपन्यास ।

2- वही, पृ० 137, 'अलका' उपन्यास ।

3- वही, पृ० 138, 'अलका' उपन्यास ।

इस तरह हम देखते है कि निराला के इन प्रारंभिक उपन्यासों में भाषा का भावुक, कल्पनाशील, काव्यात्मक रूप ज्यादा उभर कर आया है, जो भावानुगामी होने पर भी कहीं-कहीं खटक जाता है । इसका कारण यही है कि उपन्यास के यथार्थपरक वातावरण में इस तरह की भावुकता और काव्यमयता खप नहीं पाती । लेकिन इस सीमा के कारण इन उपन्यासों की यथार्थिकता को खारिज नहीं किया जा सकता । कल्पना के बिंबों-प्रतीकों के बीच कथाकार की यथार्थ की खोज को समझना बेहद जरूरी है ।

(5) प्रकृति : संघर्ष का मूर्त विधान

इन उपन्यासों में जीवन यथार्थ ने अकसर जिन उपमानों, प्रतीकों, रूपकों, बिंबों में मूर्तरूप लिया है, वे प्रकृति से जुड़े हैं । चाहे वह जीवन का संघर्ष हो, प्रेम या सौंदर्य, उपन्यासों में व्यक्ति के साथ प्रकृति की सहभागिता बराबर देखी जा सकती है । प्रकृति निराला के जीवन-संघर्ष (सामाजिक स्वाधीनता और वैयक्तिक विकास के संघर्ष) की साथी है । यह प्रकृति उद्दीपन के रीतिकालीन प्रयोजन को तोड़ उसके सुख-दुःख का अभिन्न अंग है । प्रकृति के असीम विस्तार में ही व्यक्ति खुद को पहचानता है, विकसित होता है । प्रकृति ही मनुष्य को जीवन का अर्थ समझाती है, उसे स्वार्थ के छोटे-छोटे बंधनों से मुक्त कर मानवता का पथ बताती है । निश्चय और अनिश्चय के द्वन्द्व में निरूपमा को प्रकृति ही मुक्ति का पथ बताती है । निराला लिखते हैं —'' वह जहां बैठी थी, वहां से खुला आकाश अपनी असीमता लिए हुए दीख पड़ता था । वह समझ रही थी कि दृष्टि को घेरे में उतना आनंद नहीं, जितना मुक्त आकाश के दर्शन में है, जैसे दृष्टि आकाश में अपनी असीमता प्राप्त कर अपने स्वरूप-दर्शन का आनंद पाती हो । सोच रही थी/कि फिर छोटे-छोटे बंधनों से मनुष्यों को इतनी प्रीति क्यों है।"[1]

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 418, 'निरूपमा' उपन्यास ।

प्रकृति के रूपक में ही निराला प्रेम और जीवन का रहस्य समझते हैं। सरिता की तरह जीवन के प्रवाह में ही मुक्ति का 'चिदानन्द' है। सृष्टि का अन्ततम रहस्य यही है कि उसका क्रम-क्रम मुक्ति की ओर अग्रसर है। 'फूल कितना कोमल होता है, पर वह काठ की काया के भीतर से निकलता, कितना अँधेरा पार कर वह प्रकाश के लोक में क्षण भर को हँसकर मुक्त होने के लिए आता है। इसी प्रकार मुक्ति के यज्ञ में भी मनुष्य अपना मंत्र पढ़कर भाग लेकर ही रहता है। यही उसका चिरन्तन रहस्य है।'[1]

निराला ने प्रकृति के मूर्त विधान में ही क्रांति को देखा है। उनके कुछ खास प्रतीक और बिंब हैं, जो बार-बार उभर कर आते हैं। एक है निर्झर- जो पर्वत से बहता, पत्थरों से टकराता, अंधकार में भटकता, फिर भी शांत मन से लक्ष्य की खोज में बढ़ता चला जाता है। कभी एक नयी चटकी कली प्रलय के सारे तांडव के बाद युग-बदलाव और नए युग की सांस्कृतिक पुनर्रचना की प्रतीक बनती है —

" आज हो गए ढीले सारे बंधन
मुक्त हो गए प्राण
रुका है सारा करुण क्रन्दन . . . —
एक पर दृष्टि ज़रा अटकी है
देखा एक कली चटकी है।"

'स्वच्छंद, मंद चंचल समीर रथ पर उच्छृंखल बादल' भी क्रांति और संघर्ष का प्रतीक है, जो ध्वस्त भी करता है, नया भी रचता है। लाल-लाल से सदियों के जकड़े हृदय कपाट वह कठिन प्रहारों से खोल देता है। इसीलिए 'बादलराग' में क्रांति के बादल को हाथ हिला-हिलाकर बुलाते हैं —छोटे-छोटे पौधे।

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 208, 'अलका' उपन्यास।

'अलका' में भी विजय द्वारा किसानों के संगठन, उनकी जागृति और परिवर्तन को निराला प्रकृति के ही एक बिंब में दिखाते हैं – ''विजय के प्रयत्नों से साधारण जनों की सहानुभूति बादलों से छिन्न, कटे टुकड़ों की तरह ग्राम्य आकाश घेरकर एकत्र होने लगी। शीतल, सत्-समीर के मन्द-मन्द झोंके हृदय का पहला ताप हरने लगे। ऋतु बदल गई। शिक्षा के जल से उर्वरा भूमि भीग गई। श्यामल सजल मसृण तृण-बाल एक साथ सिर उठाकर पूर्णप्रीति से लहराने लगे।''[1]

स्वराज्य के, मुक्ति के सभी स्वप्न भी प्रकृति के उपमानों में ही व्यक्त होते हैं। मसलन, 'वर्षा के जल के दबाव से तट और तारयों को भी छापकर बहने वाली क्षुद्र नदियों की तरह सुराज की प्राप्ति से लगान न देने का कल्पित सुख जनता के दुख हृदय के दोनों कूल, प्लावित करके बहने लगा।'[2]

स्वच्छंदतावादी कलाकार ने प्रायः अपने युग के जटिल सामाजिक टकरावों को प्रकृति के ही मूर्त विधान में अभिव्यक्त किया है। चेलिशेव ने इस संदर्भ में अंग्रेजी कवि शेली के उस बिंब की चर्चा की है, जहां 'हवा को झकझोरने वाली रात की आंधी का सामना करता गर्व से खड़ा सनोबर वृक्ष है, गरजती लहरें और उफनते जल-स्तंभ हैं, जिनसे होकर कवि दूर पर फहराती मुक्ति की ध्वजाएं देखता है।'[3]

निराला का सौन्दर्य-बोध भी प्रकृति से ही जुड़ा है। चाहे वह कनक के यौवन के प्रथम दौर का विस्मय हो या प्रणय, निराला प्रकृति के उपमानों के बिना बात नहीं करते – "अपनी देह के वृन्त अपलक खिली हुई ज्योत्सना के चन्द्र पुष्प की तरह, सौन्दर्योज्ज्वल पारिजात की तरह एक अज्ञात प्रणय की वायु डोल उठती है। आंखों में प्रश्न फूट उठता, संसार के रहस्यों के प्रति विस्मय।"[4]

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 189, 'अलका' उपन्यास।

2- वही, पृ० 166, 'अलका' उपन्यास।

3- ~~उद्धृत~~ चेलिशेव – 'सूर्यकांत त्रिपाठी निराला', पृ० 3।

4- निराला रचनावली, 'भाग-3, पृ० 18, 'अप्सरा' उपन्यास।

इसी तरह शोभा की सुंदरता के उपमान निराला यूं देते हैं -'वह धूप से भी गोरी और फूल से भी खूबसूरत है । आँखें बड़ी-बड़ी आम की फाँक जैसी, पढ़ी-लिखी, जैसे सुबह की किरन आसमान से उतरी हो ।'[1]

इसी तरह निराला पराधीनता से मुक्ति का जो रास्ता बताते हैं, उसमें राजनीति के दाँवपेच, चालें, रणनीति, योजनाबद्धता और धैर्य की जरूरत को वह प्रकृति के मूर्तविधान द्वारा ही समझाते हैं । जैसे, प्रभावती में यमुना रामसिंह को जल्दबाज़ी न कर, धैर्य से, सोचविचार का कोई कदम उठाने को कहती है, क्योंकि 'जब पहले-पहल बारिश होती है, तब दुनिया के कीड़े बढ़ते हैं, उस समय तैरकर पार करने के बनिस्बत नदी का बहाव देखते रहना ज्यादा अच्छा है ; कहीं कीड़े में उलझ गये तो फिर जिंदगी भर के लिए पार रह ही जाता है -- धारा ही धारा जान पड़ती है ।"[2] प्रकृति का पूरा रूपक बाँधकर निराला यह समझाते हैं कि जब दमन या अन्याय के घेरे में व्यक्ति चारों तरफ से घिर गया हो, तो वह अन्याय का प्रतिरोध तो करे, लेकिन सामने वाले की शक्ति का अंदाजा लगाकर, सोच-समझकर; यह नहीं, कि बिना बूझे दीवार में सिर मारने लगे ।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रकृति के बिंब-रूपकों में निराला तत्कालीन युगयथार्थ को, व्यक्ति के आत्मसंघर्ष और बाह्यसंघर्ष को अपने ढंग से सामने रखते हैं । इस ढंग को भाववादी, अमूर्त और कल्पनाशील भी कहा जा सकता है, लेकिन उसके बीच युगयथार्थ की वास्तविक पकड़ हमेशा मौजूद रही है ।

(6) व्यंग्य : छायावादी भावुकता की काट

निराला के स्वच्छंदतावाद की एक विशेषता है व्यंग्य । व्यंग्य निराला के जीवन-संघर्ष का हथियार है । एक तरफ यह व्यंग्य इन उपन्यासों की कल्पना-

---

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ० 145, 'अलका' उपन्यास ।

2- वही, पृ० 321, 'प्रभावती' उपन्यास ।

प्रियता और भावुकता को बराबर काटता है, दूसरी तरफ वह आलोचनात्मक यथार्थवाद की ज़मीन तैयार करता है।

निराला में स्वाभाविक हास्यप्रियता भी है, व्यंग्य की कटुता भी। मस्ती और विनोदप्रियता तो उनकी भाषा का सहज गुण ही है, जहां विशेषणों के विपर्यय भर से वह गंभीर वातावरण में भी हास्य की सृष्टि करते हैं। जैसे 'अप्सरा' में अंग्रेज़ द्वारा कनक को छेड़ने को उसके 'निश्छल प्रेम' का परिचायक कहना। उनकी यह हास्यप्रियता कभी-कभी अशिष्टता से हँसी उड़ाने के स्तर पर भी उतर आती है, जैसे दारोगा को लड़का आया हुआ, लाल आँखों वाला भैंसा कहकर छेड़ना— "अहा हा हा। कुर्बान जाऊँ साफा। कुर्बान जाऊँ डंडा। छछूंदर जैसी मूँछें। यह कद्दू जैसा मुँह।"[1]

दूसरी तरफ व्यंग्य निराला के विरोध का, व्यवस्था के प्रति आक्रोश का सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम बनकर उभरता है। चाहे उन्हें सामंती रूढ़ियों को तोड़ना हो, मानसिक-राजनीतिक गुलामी का तिरस्कार करना हो, अपने को सभ्य-सुशिक्षित कहने वाले मानव के भीतरी खोखलेपन और दोहरी मानसिकता को खोलना हो — निराला व्यंग्य के बिना बात ही नहीं करते। कभी यह व्यंग्य सरकारी नौकरशाही के चरित्र पर आक्षेप करने का माध्यम है, तो कभी जमींदार कुंवर साहब को निशाना बनाकर जमींदारी नाज़-नखरों, कला-विलासिता पर आक्षेप करने का — "इन्हें स्टेट से छः हजार मासिक जेब खर्च के लिए मिलता था। वह सब नयी रोशनी, नए फैशन में फूंककर ताप लेते थे। . . . संगीत का आपको अजहद शौक था। खुद भी गाते थे, पर आवाज़ जैसे ब्रह्मभोज के पश्चात् कड़ाह रगड़ने की। लोग इस पर भी कहते थे, क्या मँजी हुई आवाज है।"[2]

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 25, 'अप्सरा' उपन्यास।

2- वही, पृ0 22, 'अप्सरा' उपन्यास।

'आधुनिक' संस्कृति के नाम पर कला के बाज़ारूपन, नयी रोशनी के नाम पर नया फैशन — इन सब के प्रति निराला की चिढ़ व्यंग्य में ही निकलती है। खुद को आधुनिक और प्रगतिशील कहने वाला युवक आधुनिकता का क्या अर्थ लेता है, तेज बाबू के माध्यम से निराला सामने रखते हैं। इस 'उदारतावादी' युवक के लिए जीवन का मतलब है —'हैरो' में पढ़ना, 'लार्ड' खानदान की लड़की से विवाह करने के सपने देखना, 'कुन्स' इंगलिश बोलना और नारी मुक्ति पर बड़ी-बड़ी बातें करते हुए 'महिला-मन्दिरों' की स्थापना की माँग करना। गोशालाओं की तरह के महिला-मन्दिर।

व्यंग्य निराला की भाषा की प्रकृति में है। इसलिए जहाँ निराला खुद छायावादी उपमानों के ढेर लगाते हैं, खुद ही उन पर व्यंग्य भी करते हैं। उदाहरण के लिए यामिनी बाबू निरुपमा की उँगलियों की प्रशंसा में कहते हैं— "खूबसूरत उँगलियों की चम्पे से उपमा दी जाती है।" निरुपमा का जवाब है —"पर मुझे बड़े चमगादड़ के पंजे सा लगता है।"[1]

इसी तरह निराला रूढ़ियों को सिर्फ तोड़ने की खातिर किए गए अर्थहीन दुस्साहसों की हँसी भी उड़ाते हैं। जैसे, कनक द्वारा थियेटर में राजकुमार का पति रूप में मन ही मन वरण करने को कैथरिन बड़ा भारी 'प्रगतिशील' कार्य बताती है — "तुम्हारा विवाह चर्च में नहीं, थियेटर में हुआ। तुमने एक नया काम किया।"[2] निराला इस तरह के नएपन पर हँसते हैं।

यही व्यंग्य निराला के मोहभंग की परिणति के रूप में भी उभरता है, जब वह हर चीज़ को अविश्वास से देखते हैं, हर चीज़ में दोष निकालते हैं, इस हद तक, कि वह कटुता में बदल जाता है। आलोचना की यह कटुता

1- निराला रचनावली, भाग-3, पृ0 358, 'निरुपमा' उपन्यास।

2- वही, पृ0 35, 'अप्सरा' उपन्यास।

सिर्फ व्यवस्था पर नहीं, खुद पर भी है – अपनी असफलता पर, स्वार्थ-समर में अपनी क्षुधा से हार जाने पर, यहाँ व्यंग्य पीड़ा की अनुभूति को तीव्र करता है। रामविलास शर्मा ने लिखा भी है कि 'मोह के सपने टूटते हैं तो, निराला की हँसी में कहीं उनके बड़प्पन का भाव छिपा है, कहीं दूसरों को नीचा दिखाकर तुष्ट होने का भाव है, साथ ही इस हँसी में द्रष्टा की तटस्थता, अपने ऊपर हँसने की ताकत भी है।'[1]

इस तरह हम कह सकते हैं कि निराला के इन प्रारंभिक उपन्यासों का शिल्प भले ही एक नज़र में 'शुद्ध' भाववादी क्यों न लगता हो, कथाकार निराला का हृदय भावमय शब्दचित्रों, कल्पना की उन्मुक्त उड़ानों, लाक्षणिक प्रतीकों और अमूर्त बिंबों में कितना ही क्यों न रमता हो, उनकी रचनाशीलता की व्यंग्य की प्रकृति उपन्यासों को यथार्थ की ओर उन्मुख करती है। उनके परवर्ती उपन्यासों का शिल्प अगर यथार्थवादी कहा जाता है, तो उसका एक कारण उनमें व्यंग्य की इसी प्रखर चेतना का विद्यमान होना है।

1- रामविलास शर्मा - 'निराला की साहित्य साधना', भाग-2, पृ० 230

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY LIBRARY

उपसंहार

जेल की अंधेरी सर्द कोठरी की सलाखें तोड़कर, कोठरी के बाहर एक बाज के साथ उड़ जाने की इच्छा, कारा तोड़कर गंगा-जलधारा बहा देने का संकल्प, कली की गंध के दिशातीत प्रसार की मानवता – यही स्वच्छन्दतावाद की मूल चेतना है ।

स्वच्छन्दता, मुक्ति और विद्रोह की यह चेतना हर उस संवेदनशील रचनाकार में स्वभावतः रहती है, जो युग के दबावों को तीव्रता से महसूस करता है । इस अर्थ में यह स्वच्छन्द चेतना किसी खास युग की बपौती नहीं, यह अलग-अलग कलाकारों में अलग-अलग रूपों में अभिव्यक्त होती रही है । लेकिन कुछ विशिष्ट युग-संदर्भों और जीवनानुभवों से जुड़कर युग बदलाव की इस स्वच्छन्द आकांक्षा ने एक आंदोलन का रूप भी लिया है और स्वच्छन्दतावाद का यह दौर विश्व की अनेक भाषाओं के साहित्य में कई विभिन्न मुद्राओं में अभिव्यक्त हुआ है ।

यूरोपीय सन्दर्भों में स्वच्छन्दतावाद फ्रांसीसी क्रांति के 'आज़ादी, समानता और बंधुत्व' के सपनों और निरंकुश राजतंत्र के सभी रूपों के प्रतिरोध से जुड़ा है, जब रूढ़ि और परंपरा के विरुद्ध, अभिजात वस्तुपरकता और शास्त्रीयता के विरुद्ध, रचनाकार के भावात्मक विद्रोह का अस्त्र है उसकी वैयक्तिकता, संवेदनशीलता और सृजनशील कल्पना । प्रतिक्रांति के दौर में सामंती दमन की निराशा और पूंजीवादी बाज़ार में कला का माल बन जाना ; प्रतिद्वन्द्विता के जंगल में अस्तित्व की अनिश्चितता–इस मोहभंग के खिलाफ कलाकार में सक्रिय विरोध भी है, अवसाद के घेरे और मृत्यु की आकांक्षा भी और जनता के प्रति उदासीनता भी ।

भारतीय सन्दर्भ में स्वच्छन्दता की यह चाह मध्यकालीन मूल्यों से मानव-व्यक्तित्व की मुक्ति और अंग्रेजी गुलामी से मुक्ति की आकांक्षा बनकर अभिव्यक्त हुई है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध यहाँ कलाकार में भी है, जनता में भी, इसलिए पश्चिम की तरह उसमें जनता का तिरस्कार या अकेली वैयक्तिकता नहीं। कलाकार की वैयक्तिक चेतना का सीधा संघर्ष यहाँ सामूहिक संघर्ष हो रहा है।

हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद स्वाधीनता आंदोलन के उस दौर के समानांतर चलता है, जब पूरे देश में क्रांतिकारी असंतोष की लहर उठती है और समाज का एक हिस्सा विद्रोह के रास्ते पर उतर आता है, जब जन-आंदोलनों के उत्साह की परिणति उन्हें वापिस लेने की टूटन और कटुता में होती है। तीसरे-चौथे दशक के इस दौर की अनिश्चितता में गांधीवादी सुधार और समझौता की राह छोड़कर एक नए विकल्प की तलाश है। यह अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध में, जनसाधारण — किसान-मजदूर के संगठित हो, उठ खड़े होने का पक्ष है, जिसे स्वच्छन्दतावादी रचनाकार ने अपनी रचनाशीलता में तलाशा है।

निराला का वैयक्तिक जीवन-संघर्ष ही उनके स्वच्छंदतावाद का स्वरूप निर्धारित करता है। वक्त के दबावों के साथ संघर्ष ने उन्हें कबीर की तरह 'घर फूंके आपना, चलो हमारे साथ' जैसा 'दुस्साहस' दिया है। उनमें जड़ होती हुई रूढ़ियों को काट फेंकने की निर्ममता भी है, लोकजीवन से जुड़ी विरासतों को आत्मसात करने की संवेदनशीलता भी; अन्याय और उत्पीड़न की व्यवस्था के प्रति आक्रोश भी और एक ऐसी सृष्टि रचने की इच्छा भी, जहाँ 'व्यक्ति' की समस्त क्रियात्मक सृजनात्मक क्षमताओं का स्वच्छन्द विस्तार संभव हो सके।

निराला के प्रारंभिक उपन्यासों में स्वच्छंदतावाद का यही सक्रिय, आलोचनात्मक पक्ष देखा जा सकता है। वे 'भाववादी शिल्प में लिखे गए भावनाप्रधान उपन्यास' के ढांचे में 'फिट' नहीं होते, न ही कवि की कल्पना के कारण

छायालोक बन कर रह जाते हैं; बल्कि उनमें तत्कालीन भारतीय परिवेश के जटिल जीवन-यथार्थ को खोजा गया है — चाहे वह मुक्ति-संग्राम के भविष्य की दिशा की खोज हो या सामंती मनोवृत्तियों, धर्म-जाति-समाज की रूढ़ियों से मुक्ति का प्रयास।

'अप्सरा' में यह जीवन संग्राम एक प्रेमकथा के ढांचे में अपने ही द्वारा चुने गए जीवन-पथ पर प्रश्न-चिह्न लगाने से शुरू होता है और तमाम अंतर्द्वन्द्वों और असंगतियों में व्यक्ति अपनी अस्मिता को पहचानने की कोशिश करता है। 'अलका' में जीवन-समर ज्यादा मुखर है। यहां प्रेमकथा भी है और दूसरे महायुद्ध में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भूमिका, पूंजीवादी स्वार्थ समर में देशी-विदेशी शोषक शक्तियों की मिलीभगत पर आक्षेप भी और शोषण-तंत्र से मुक्ति की साधना भी। किसान-संघर्ष का निराला का यह पक्ष उन्हें प्रेमचंद के बहुत करीब ले आता है। 'निरुपमा' में 'बुद्धिजीवी' वर्ग की प्रेमकथा में आधुनिक युवाशक्ति की सृजनात्मक संभावनाएं, जाति-धर्म की रूढ़ियों के अस्वीकार की क्षमता को भी देखा जा सकता है, बेरोजगारी, भाईभतीजावाद, मध्यवर्गीय खोखलेपन और ओढ़े हुए 'बुद्धिजीवी' व्यवहार को भी। 'प्रभावती' में अतीत के राजेरजवाड़ों के आपसी झगड़ों की सीख है, अन्याय के प्रतिरोध की प्रेरणा, और वीरांगना नारी का नया अर्थ — प्राणिमात्र से प्रीति — भी।

इन उपन्यासों का जीवन-यथार्थ निराला की पूरी पहचान और भागीदारी के कारण रागात्मक और कल्पनाशील हो गया है, कल्पित नहीं। उसमें मुक्ति का खोखला उत्साह या युग-समस्याओं के काल्पनिक समाधान नहीं, बल्कि 'आकांक्षा और अप्राप्ति के अपराजित समर' में बार-बार लड़ने और हारने वाले वास्तविक मनुष्य का संघर्ष है।

इस संघर्ष में अंततः व्यक्ति हारा या जीता — इस बारे में कोई अंतिम समाधान इन उपन्यासों में नहीं है। आलोचकों द्वारा जिन घटनाओं

की समाधान कह दिया जाता है, गहराई से देखने पर उनमें कोई अंतिम निर्णय नहीं, आगे की संभावनाओं का भी अवकाश देखा जा सकता है।

इन उपन्यासों में जहां प्रेम और सौन्दर्य की निर्बाध अभिव्यक्ति के क्षण हैं, व्यक्ति-मन के भावजगत के अन्तर्द्वन्द्व हैं, वहीं व्यक्ति के संघर्ष में समूह की आकांक्षा और पराजय भी अभिव्यक्त हुई है और मानवता तक व्यक्ति का आत्मविस्तार भी हुआ है। इसलिए उन्हें सिर्फ एक रोमांचक प्रेमकथा के रूप में देखना बेमानी है। प्रेम और जीवन के संघर्ष में ही 'सुराज' के वास्तविक अर्थ को भी समझा गया है और संघर्ष की वास्तविक राह भी खोजी गई है। इसमें निराला की विचारधारा स्पष्ट है -- देश के सभी अंगों के लिए स्वराज्य। स्वराज्य-प्राप्ति का यह संघर्ष किसानों और मजदूरों को साथ लेकर चलता है।

वैसे भी, स्वच्छंदतावादी कलाकार का व्यक्ता के प्रति पूरा आग्रह उसके वैयक्तिक विद्रोह से अलग नहीं, उसी का प्रतिफलन है। 'व्यक्ति' की आज़ादी में ही कलाकार ने समूह की आज़ादी को महसूस किया है और 'मैं' की पीड़ा 'दुखी निजभाई' की पीड़ा से पैदा हुई है। व्यक्ति के संघर्ष में सामूहिक संघर्ष की व्यंजना और समूह का संघर्ष बनकर भी 'व्यक्ति' के अंश का परितोष -- वैयक्तिकता और सामाजिकता का यह द्वन्द्वात्मक संबंध स्वच्छंद-तावादी कविता के मुकाबले उपन्यासों में ही ज़्यादा उभर कर आया है। स्वच्छंदतावाद के आलोचनात्मक यथार्थवाद तक के सफर की कड़ी है ये उपन्यास।

इन उपन्यासों की वास्तविक कथा उनके द्वारा खोजे गए यथार्थ में ही है, भले ही यथार्थ का यह आलोचनात्मक प्रतिबिम्बन प्रेमकथा की फैंटेसी, घटनाओं के रूप-विधान, प्रकृति के प्रतीकों या भाषा के भावुक, काव्यमय प्रयोगों के माध्यम से ही क्यों न हुआ हो।

इन उपन्यासों का घटनाजाल अगर संयोग-रहस्य-तिलस्म वाली रोमांचक किस्सागोई की परंपरा की याद दिलाता है, तो मुक्ति के लिए योजनाबद्ध संगठन और व्यूह रचना की भी। जीवन-पथ के अंधकार को काटने के लिए

अगर व्यक्ति को प्रेम या मुक्ति का दीप जलाना है, तो उसे अप्रत्याशित एवं के लोकि का रूप जानना भी जरूरी है – ऐसा आभास कथातंत्र में बराबर रहता है ।

निराला ने इन उपन्यासों में युग के जटिल-सामाजिक टकरावों को प्रायः प्रकृति के मूर्तविधान में ही अभिव्यक्त किया है, लेकिन प्रकृति सिर्फ उपमान योजना का माध्यम नहीं, कथाकार के संघर्ष की साक्षी और प्रेरक है । इन उपन्यासों में भाषा का काव्यमय, प्रतीकात्मक, संस्कृतनिष्ठ कोमलकांत पदावली और लाक्षणिक अर्थ-वैचित्र्य वाला छायावादी रूप भले ही प्रबल रहा हो और निराला छायावादी सौन्दर्यबोध के कारण सौन्दर्य-वर्णन तक में रहस्यात्मकता और विस्मय का समावेश क्यों न करते हों, युगयथार्थ की वास्तविक पकड़ को पैना करता है उनका व्यंग्य । यह व्यंग्य इन उपन्यासों की कल्पनाप्रियता के समानांतर परवर्ती उपन्यासों के आलोचनात्मक यथार्थवाद की ही ज़मीन तैयार करता है ।

इन उपन्यासों में केवल इच्छापूर्ति के स्वप्न नहीं, निराला के व्यक्तिगत अनुभवों का सच है, जो मानव के मुक्त सह-अस्तित्व के प्रश्न को एक चुनौती के रूप में सामने रखता है । पारंपरिक धारणाओं और विश्वासों के पूर्वाग्रहों से मुक्त होने के कारण इन उपन्यासों का सच आलोचनात्मक भी है, अन्वेषक भी ।

इति ।

परिशिष्ट एक : आधार ग्रंथ

उपन्यास		प्रकाशन- पुस्तक रूप में
1- अप्सरा	:	गंगा पुस्तक माला, लखनऊ। जनवरी, 1931
2- अलका	:	गंगा पुस्तक माला, लखनऊ। सितंबर, 1933
3- प्रभावती	:	सरस्वती पुस्तक भंडार, लखनऊ। मार्च, 1936
4- निरुपमा	:	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद। नवंबर, 1936

(संदर्भ : निराला रचनावली, भाग-3, सं0 नंदकिशोर नवल,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1983)

—

परिशिष्ट दो : सहायक ग्रंथ

(क) हिन्दी

1- अ० ज० मानप्रेद : 'संक्षिप्त विश्व इतिहास', प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1980

2- केदारनाथ सिंह : 'कल्पना और छायावाद', एस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1979

3- कुंवरपाल सिंह सव्यसाची (सं०) : 'प्रेमचंद और जनवादी साहित्य की परंपरा', भाषा प्रकाशन, दिल्ली, 1980

4- गजानन माधव मुक्तिबोध : 'नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1971

5- ,, : 'एक साहित्यिक की डायरी', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1976

6- गोपाल शर्मा (सं०) : 'भारतीय भाषाओं का संक्षिप्त इतिहास', केंद्रीय हिन्दी निदेशालय, दिल्ली, 1974

7- जयशंकर प्रसाद : 'तितली', भारती भंडार, इलाहाबाद, 1966

8- ,, : 'काव्य कला तथा अन्य निबंध', भारती भंडार, इलाहाबाद, 1968

9- नरेन्द्र मोहन : 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास', मैकमिलन, दिल्ली, 1975

10- नवल किशोर : 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता', प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 1977

11- नंद किशोर नवल (सं०) : 'निराला रचनावली', भाग-1-3, 4-5-6, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1983

12-नागार्जुन : 'निराला : एक व्यक्ति, एक युग', परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1977

13-नामवर सिंह : 'छायावाद', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968

14-नेमिचंद्र जैन (सं0) : 'मुक्तिबोध रचनावली', भाग-4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1980

15-पदमसिंह शर्मा कमलेश (सं0) : 'निराला', राधाकृष्ण मूल्यांकन माला, 1969

16-मुकुन्द द्विवेदी : 'हिन्दी उपन्यास : युगचेतना और पाठकीय संवेदना', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1970

17- ,, (सं0) : 'हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली', भाग-7, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1981

18-ये0 पे0 चेलिशेव : 'सुमित्रानंदन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परंपरा और नवीनता' (हिन्दी में अनूदित), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1970

19- ,, : 'सूर्यकांत त्रिपाठी निराला', (हिन्दी में अनूदित), राजपाल एंड संस प्रकाशन, दिल्ली, 1981

20-रजनीपामदत्त : 'आज का भारत', हिन्दी अनुवाद, मैकमिलन, नई दिल्ली, 1977

21-रवीन्द्रनाथ ठाकुर : 'गोरा', साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1984

22-राजकुमार सैनी : 'साहित्य द्रष्टा निराला', मिपुल लिटरेसी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981

23-रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं0 2042 वि

24- रामदरश मिश्र : 'हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968

25- रामविलास शर्मा : 'निराला की साहित्य साधना', भाग-2, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1981

26- ,, : 'राग-विराग', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1978

27- राल्फ फाक्स : 'उपन्यास और लोकजीवन', हिन्दी अनुवाद, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1980

—

(ख) पत्र-पत्रिकाएँ

1- पूर्वाग्रह – अंक-46-47, सितंबर-दिसंबर, 1981, भोपाल

2- आलोचना – जुलाई-सितंबर, 1968, राजकमल, दिल्ली

3- ,, – जुलाई-सितंबर, 1975, राजकमल, दिल्ली

4- ,, – अक्टूबर-दिसंबर, 1976, राजकमल, दिल्ली

5- ,, – अप्रैल-जून, 1977, राजकमल, दिल्ली

6- ,, – अक्टूबर-दिसंबर, 1979, राजकमल, दिल्ली

—

(ग) अंग्रेजी ग्रंथ

1. Abrams, M. H. : 'Natural Supernaturalism- Tradition and Revolution in Romantic Ideals'; London, Oxford, 1971.
2. Allot, Miriam (Ed): 'Novelists on the Novel'; London, Routledge and Kegan Paul, 1959.
3. Bowra, C.M. : 'The Romantic Imagination'; Oxford University Press, London, 1961.
4. Charlton, D.G. (Ed): 'The French Romantics'; Cambridge University Press, 1984.
5. Clubbe (J), Lovell(E): 'English Romanticism'; The Grounds of Belief; Macmillan, London, 1983.
6. Craig, David (Ed): 'Marxists on Literature,: An Anthology'; Penguin Books, 1975.
7. Fishher Ernst: 'The Neccessity of Art: A Marxist Approach' ; Penguin Books, 1981.
8. Frye Northrop: ' ' Romanticism Reconsidered': Columbia Universit Press, 1963.
9. " 'Study of English Romanticism'; Harvester Press, 1983.
10. Gorky, Maxim: 'On Literature'; Progress Publishers, Moscow, 1973.
11. Hauser, Arnold: 'The Social History of Art': Vol III, Vintage books, 1957.
12. Hulme, T.E.: 'Speculations'; Routledge and Kegan Paul, 1936.
13. Hutchinson(Ed) : 'Wordsworth's Poetical Works, Oxford, 1908.
14. Lermontov, Mikhail: 'Selected Works'; Progress Publishers, 1976.
15. Lucacs, George: 'The Meaning of Contemporary Realism'; Merlin Press, London, 1979.

16. Pushkin, A: 'Selected Works': Progress Publishers, Moscow, 1974.

17. Solomon, Maynard, (Ed): 'Marxism and Art': The Harvester Press, 1979.

18. Stalknecht, (P), Frens: 'Comparative Literature'; Southern Illinois University Press, 1973.

19. Thompson, E.P.: 'The Making of The English Working Class'; Victor Collanez Ltd, London, 1963.

20. Watt, Ian: 'The Rise of the Novel': Penguin Books, 1981.

21. Wellcok, Rene: 'A History of Modern Criticism'; Vol II, 'The Romantic Age': New Haven, 1955.

22. Williams, Raymond: 'Culture and Society, 1780 - 1950'; Harmondsworth, Penguin Books, 1968.

23. " 'The Long Revolution'; Penguin Books, 1975.

24. Wordsworth, William: 'The Prelude; Growth of a Poet's Mind': Clarendon Press, Oxford, 1978.

25. Vazquez, A.S.: 'Art and Society'; Monthly Review Press, New York and London, 1973.

Dictionaries:

1. Dictionary of Literary Terms - J.A. Cudden, Indian Book Company, 197

2. Dictionary of Literary Terms- Harry Shaw.

3. Dictionary of Philosophy- I. Frolov. Progress Publishers, 1984.

4. Dictionary of World Literary Terms- J.T. Shipley. George Allen and Unwin Ltd. 1970